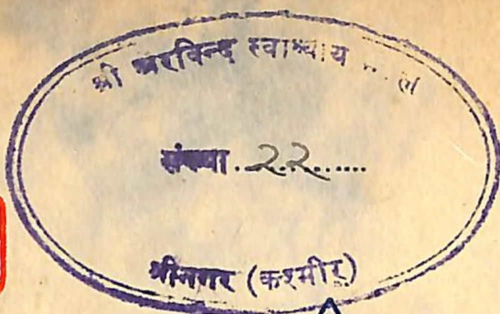




श्रीअरविंद

इस जगत्‌की पहेली

मूल्य सवा रुपया

इस जगत्की पहेली

श्रीअरविंद



श्रीअरविंद-ग्रंथमाला
पांडीचेरी

भाषांतरकार

मदनगोपल गाडोदिया

प्रकाशक

चंद्रदीप

श्रीअरविंद ग्रंथमाला, पांडीचेरी

मई १९४९

तृतीय संस्करण
१५००

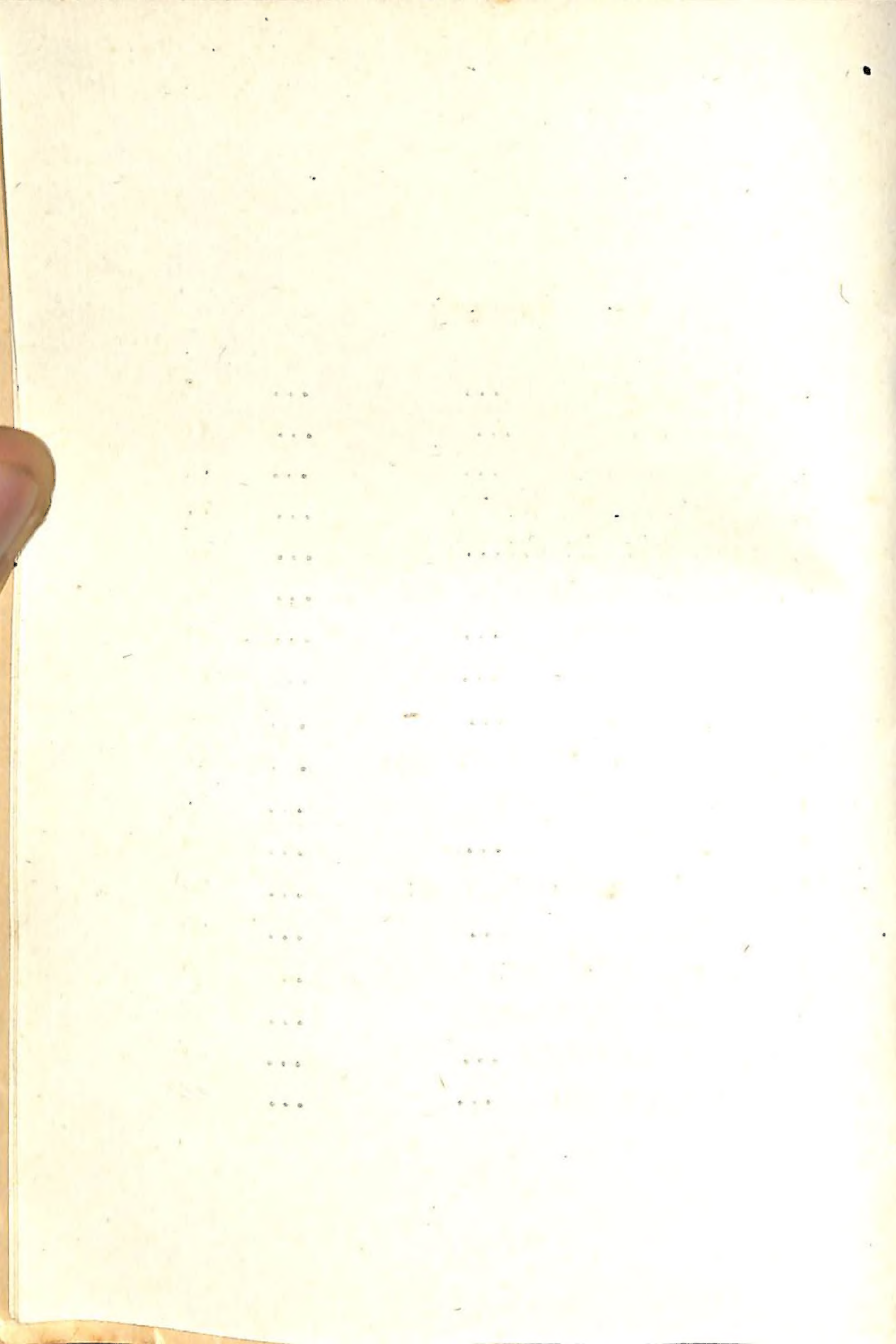
मूल्य १।)
सवा रुपया

प्रकाशकका वक्तव्य

यह पुस्तक श्रीअरविंदकी 'दी रिडल आफ दिस वर्ल्ड' (The Riddle of This World) नामक अंगरेजी पुस्तकका हिंदी अनुवाद है। इस पुस्तकमें श्रीअरविंदके कुछ ऐसे लेखोंका संग्रह है जिन्हें उन्होंने समय-समयपर अपने शिष्योंको अथवा योग और अध्यात्मके अन्य जिज्ञासुओंको, उनके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखा है अथवा जिनमें, यथा 'झूठी चमककी तराई' में, बाहर-से सम्मतिके लिये आये हुए पत्रोंकी उन्होंने समीक्षा की है। ये लेख सर्वसाधारणके लिये उपयोगी हैं, इनमें कई ऐसे प्रश्नोंके उत्तर हैं जो आध्यात्मिक सत्य और अनुभूतिके विषयमें प्रायः उठा करते हैं; इसलिये इनको इस पुस्तकमें संकलित करके एक ही सामान्य नामसे प्रकाशित किया जाता है।

इस पुस्तकके द्वितीय संस्करणमें अनुवादमें काफी परिवर्तन किया गया था। इस तृतीय संस्करणमें आगे और कोई हेरफेर न कर द्वितीय संस्करणके अनुवादको ही ज्यों-का-त्यों छाप दिया गया है।

विषय-सूची



इस जगतकी पहेली

एक महत्तर सत्य

मेरे कहनेका अभिप्राय था पृथ्वीपर विज्ञानमयी चेतनाका अवतरण; विज्ञानमय लोकसे नीचे जितने भी सत्य हैं वे सभी (यहांतक कि मनोमय लोकका उच्चतम आध्यात्मिक सत्य भी, जो अबतकके अभिव्यक्त सभी सत्योंमें सर्वोच्च है) या तो आंशिक हैं या आपेक्षिक अथवा यों कहें कि अपूर्ण हैं और पार्थिव जीवनको रूपांतरित करनेमें असमर्थ हैं; वे अधिक-से-अधिक इस जीवनको थोड़ा-सा परिवर्तित और प्रभावितभर कर सकते हैं। विज्ञान (Supermind) वह सत्यं ऋतं बृहत् है जिसका वर्णन प्राचीन ऋषि कर गये हैं; उसकी अबतक कुछ-कुछ झलक ही मिलती रही है, कभी-कभी उसका थोड़ासा अप्रत्यक्ष प्रभाव या दबाव ही पड़ता रहा है, पर कभी इस पार्थिव चेतनाके अंदर उसका अवतरण कराकर उसे स्थापित नहीं किया गया है। उसका इस तरह अवतरण कराना ही हमारे योगका उद्देश्य है।

परंतु यहां इस विषयमें निरर्थक बौद्धिक वाद-विवाद करना ठीक नहीं। हमारी बुद्धि इस बातको जरा भी नहीं समझ सकती कि विज्ञान क्या है और तब भला उस विषयमें बुद्धिके द्वारा तर्क-वितर्क करनेसे लाभ ही क्या जिसे वह जानती ही नहीं? तर्क-वितर्कके द्वारा नहीं, बल्कि सतत अनुभूतिके द्वारा, चेतनाके

विकास तथा ज्योतिके अंदर उसके प्रसारणके द्वारा ही हम बुद्धिके परे अवस्थित चेतनाके उन उच्चतर स्तरोंमें पहुंच सकते हैं जहांसे हमें भागवत प्रज्ञाको देखना आरंभ कर सकते हैं। पर वे स्तर भी विज्ञान नहीं हैं, वे केवल उसके ज्ञानको थोड़ा-बहुत ग्रहण कर सकते हैं।

वैदिक ऋषियोंने पृथ्वीपर उतार लानेके लिये कभी विज्ञानको नहीं प्राप्त किया अथवा उन्होंने उसका शायद प्रयास भी नहीं किया। उन्होंने केवल व्यक्तिगत रूपसे विज्ञानमय लोकमें पहुंचनेका प्रयत्न किया था, पर उसे नीचे नहीं उतारा और न उसे पार्थिव चेतनाका एक स्थायी अंग ही बनाया। उपनिषदोंमें भी कुछ ऐसे मंत्र मिलते हैं जिनमें यह संकेत किया गया है कि इस पार्थिव शरीरको रखते हुए सूर्य (विज्ञानके प्रतीक) के द्वारसे होकर जाना असंभव है। इसी विफलताके कारण भारतका आध्यात्मिक प्रयास मायावादमें पर्यवसित हुआ। परंतु हमारे योगमें आरोहण और अवरोहणकी दो गतियां हैं; इसमें साधक क्रमशः चेतनाके एक स्तरसे दूसरे स्तरमें ऊपर उठता है और साथ-ही-साथ इन स्तरोंकी शक्तिको केवल मन और प्राणके अंदर ही नहीं, प्रत्युत अंतमें शरीरतकमें नीचे उतार लाता है। और इन स्तरोंमें जो सबसे ऊपर है, जिसे प्राप्त करना इस योगका लक्ष्य है, वह है विज्ञानमय लोक। जब विज्ञानको नीचे उतारा जा सकेगा तभी पार्थिव चेतनाका दिव्य रूपांतर होना संभव होगा।

४ मई १९३०

परतत्त्ववर्ग

मेरी समझमें आध्यात्मिक और गुह्य ज्ञानकी किसी एक प्रणालीके साथ किसी दूसरी प्रणालीका ठीक-ठीक पारस्परिक संबंध-सूत्र सर्वत्र नहीं मिल सकता। सभी प्रणालियां एक ही विषयका प्रतिपादन करती हैं; पर सबके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं, सबके देखनेकी क्षमता अलग-अलग होती है, देखी हुई तथा अनुभूत वस्तुके विषयमें सबकी मानसिक भावनाएं अलग-अलग होती हैं, सबके व्यावहारिक हेतु भिन्न-भिन्न होते हैं और इस कारण निरूपित, निर्मित या अनुसृत मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं; इस तरह अलग-अलग प्रणालियां उत्पन्न होती हैं और प्रत्येक प्रणाली अपनी अलग पद्धति और विधि निश्चित करती है।

प्राचीन भारतीय प्रणालीके अनुसार केवल एक त्रयात्मक पर-तत्त्व है सच्चिदानंद। अथवा तुम यदि परार्धको परतत्त्व मानो तो वहां तीन लोक हैं—सत्-लोक, चित्-लोक और आनंद-लोक। विज्ञानको चौथा लोक माना जा सकता है, क्योंकि वह अन्य तीनों लोकोंसे अनुप्राणित होता है और उसका स्थान परार्ध-में ही है। भारतीय प्रणालियोंने चैतन्यकी उन दो सर्वथा भिन्न शक्तियों और स्तरोंमें कोई भेद नहीं किया जिनमेंसे एकको हम अधिमानस (Overmind) और दूसरेको वास्तविक विज्ञान, अतिमानस या भागवत प्रज्ञा (Supermind) कह सकते हैं।

यही कारण है कि माया (अधिमानस-शक्ति या विद्या-अविद्या) के विषयमें वे बड़े भ्रममें पड़ गये और उसे ही उन्होंने परा सृष्टिशक्ति मान लिया। इस तरह जहां अर्ध-प्रकाश ही था वहीं आकर वे रुक गये और इस कारण उन्हें रूपांतरका रहस्य नहीं मालूम हुआ–यद्यपि वैष्णव और तांत्रिक योग-प्रणालियोंने उसे पुनः प्राप्त करनेका प्रयास भी किया और कभी-कभी वे सफलताके किनारेतक भी पहुंच गयी थीं। अन्य योगप्रणालियोंने, जहांतक मैं समझता हूं, क्रियात्मक भागवत सत्यको ढूंढ़नेके लिये जितने भी प्रयास किये उन सबमें बाधा पड़नेका कारण बस यही था कि अधिमानस और विज्ञानमें भेद नहीं किया गया। मैं ऐसी किसी भी योगप्रणालीको नहीं जानता जिसने अधिमानसकी ज्योतिका अवतरण होते ही यह कल्पना न कर ली हो कि यही सत्य प्रकाश है, विज्ञान है; और यही कारण है कि वे या तो यहीं आकर रुक गयीं और उससे आगे नहीं बढ़ सकीं अथवा वे यह मान बैठीं कि यह भी माया या लीला है और एकमात्र करणीय अब यही है कि इसका भी अतिक्रमण कर परब्रह्मकी निश्चल, निष्क्रिय नीरवतामें प्रवेश किया जाय।

संभवतः 'परतत्त्ववर्ग' से जो सूचित होता है वह है वर्तमान सृष्टिके तीन मूलतत्त्व। भारतीय प्रणालीके अनुसार ये तीन तत्त्व हैं–ईश्वर, शक्ति और जीव अथवा सच्चिदानंद, माया और जीव। परंतु हमारी योगप्रणालीमें, जिसका उद्देश्य वर्तमान सृष्टिके परे जाना है, ये आसानीसे ही स्वीकृत हो सकते हैं और चेतनाके विभिन्न स्तरोंकी दृष्टिसे देखनेपर हम तीन उच्चतम स्तरोंको–आनंद (सत् और चित् इसके अंदर निहित और इसपर स्थित

हैं), विज्ञान और अधिमानसको तीन परतत्त्व कह सकते हैं। अधिमानस अपरार्धकी चोटीपर अवस्थित है और यदि तुम विज्ञान-में पहुंचना चाहो तो तुम्हें अधिमानससे होकर उसके परे जाना होगा; फिर विज्ञानके भी ऊपर और परे सच्चिदानंदके लोक हैं।

तुम कहते हो कि अधिमानसके नीचे एक खाई है। पर क्या सचमुच कोई खाई है—अथवा मनुष्यकी अचेतनताके अतिरिक्त भी कोई और खाई है? इस समस्त लोक-परंपरामें या चेतनाके इन विभिन्न स्तरोंमें कहीं कोई वास्तविक खाई नहीं है, सभी स्तर सर्वत्र एक-दूसरेसे संबद्ध हैं और हम एक स्तरसे दूसरे स्तरमें सीढ़ीकी तरह ऊपर उठ सकते हैं। अधिमानस और मानव-मनके बीच में अधिकाधिक ज्योतिर्मय बहुतसे स्तर हैं; पर, चूंकि मानव-मनके लिये ये अतिचेतन हैं (केवल एक या दो-को छोड़कर जो सबसे नीचे हैं और जिनका कुछ सीधा स्पर्श उसे मिलता है), इसलिये वह इन्हें एक प्रकारकी परम अचेतन अवस्था मान लेता है। एक उपनिषद्में ईश्वर-चैतन्यको सुषुप्ति कहा गया है, क्योंकि केवल समाधिकी अवस्थामें ही मनुष्य साधारणतः उसमें प्रवेश करता है, जबतक कि वह अपनी जाग्रत चेतनाको किसी उच्चतर स्थितिमें बदल देनेका प्रयास नहीं करता।

वास्तवमें सत्ता और उसके अंगोंके संगठनमें दो प्रणालियां एक साथ कार्य कर रही हैं—एक है समकेंद्रिक जिसमें कई श्रेणी-बद्ध चक्र या कोष हैं और जिसके केंद्रमें है हृत्पुरुष; और दूसरी है खड़ी, आरोहण और अवरोहणकी प्रणाली, जिसमें सीढ़ियोंकी तरह एकके ऊपर एक क्रमबद्ध अनेक लोक हैं और उन सबके ऊपर अधिमानस-विज्ञान है जो मानव-चेतनासे निकलकर भागवत

चेतनामें जानेके मार्गकी सबसे जटिल ग्रंथि है। इस तरह भागवत चेतनामें पहुँचनेके लिये, अगर उसके साथ-ही-साथ रूपांतर भी सिद्ध करना हो तो, बस एक ही मार्ग है। सबसे पहले एक अंतर्मुखी परिवर्तन होना चाहिये, अंतरतम प्रदेशमें विराजमान हृत्पुरुषको प्राप्त करने और उसे सामने ले आनेके लिये अपने भीतर प्रवेश करना चाहिये तथा उसके साथ-ही-साथ अपनी प्रकृतिके आंतर मन, आंतर प्राण और आंतर भौतिक अंगोंको उद्घाटित करना चाहिये। तब उसके बाद आरोहण होना चाहिये, ऊपरकी ओर एकके बाद एक लगातार परिवर्तन होने चाहियें और फिर निम्न भागोंको परिवर्तित करनेके लिये नीचे वापस आना चाहिये। जब साधक आंतर परिवर्तन कर लेता है तब वह संपूर्ण निम्न प्रकृतिको हृत्पुरुषके प्रभावके द्वारा इस प्रकार बदल देता है कि वह दिव्य रूपांतरके लिये प्रस्तुत हो जाय। ऊपरकी ओर जानेपर साधक मानव-मनका अतिक्रमण करता है और आरोहणकी प्रत्येक अवस्थामें वह एक नयी चेतनाको प्राप्त होता है और वह नयी चेतना उसकी समस्त प्रकृतिके अंदर संचरित होती है। इस तरह जब हम बुद्धिसे परे प्रबुद्ध उच्चतर मन-लोकसे होकर संबोधि-चेतनामें पहुंचते हैं तब हम प्रत्येक वस्तुको, बुद्धिके क्षेत्रसे या बुद्धि-रूपी यंत्रके द्वारा नहीं, बल्कि एक उच्चतर बोधिमयी ऊंचाईसे और एक सहजज्ञानमय संकल्प, अनुभव, भाव, वेदन और शारीरिक स्पर्शके द्वारा देखना-समझना आरंभ करते हैं। इस तरह फिर संबोधिसे ऊपर अधिमानसकी ऊंचाईपर पहुंचनेपर एक और नया परिवर्तन होता है और हम प्रत्येक वस्तुको अधिमानस-चेतनासे और अधिमानस-

सुलभ विचार, दृष्टि, संकल्प, अनुभव, वेदन, शक्तिकी क्रीड़ा तथा स्पर्शसे ओतप्रोत मन, हृदय, प्राण और शरीरके द्वारा देखते और अनुभव करते हैं। परंतु अंतिम परिवर्तन है विज्ञानमय, क्योंकि एक बार जहां हम वहां पहुंच गये—एक बार जहां प्रकृति विज्ञान-मयी बन गयी वहां हम अज्ञानके परे पहुंच जाते हैं और फिर उसके बाद चेतनाके और किसी परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं रह जाती, यद्यपि उसके बाद भी दिव्य प्रगतिकी, अनंत विकास-की संभावना बनी ही हुई है।

१६ अप्रैल १९३१

लोक-संस्थान-क्रम

यदि हम विभिन्न लोकों या स्तरोंके क्रम-विन्यासको एक साथ देखें तो हमें वह एक महान् सुसंबद्ध जटिल गतिके रूपमें दिखायी देगा; उच्चतर लोक तो निम्नतर लोकोंपर अपना प्रभाव डालते हैं और निम्नतर लोक उच्चतर लोकोंकी ओर प्रतिक्रिया करते और अपने अंदर अपने निजी नियमके अनुसार एक ऐसी चीज विकसित या अभिव्यक्त करते हैं जो उनसे उच्चतर शक्ति और उस शक्तिकी क्रियाके अनुरूप होती है। इस जड़तत्त्वके जगत्‌ने प्राणमय लोकके प्रभावमे प्रेरित होकर प्राणका और मनोमय लोकके प्रभावसे प्रेरित होकर मनका विकास किया है। अब यह विज्ञान-लोकके प्रभावसे प्रेरित होकर विज्ञानका विकास करनेका प्रयास कर रहा है। इसी बातको थोड़े और विस्तारके साथ यों कहा जा सकता है कि किसी उच्चतर लोककी विशिष्ट प्रवृत्तियां, गतियां, शक्तियां और सत्ताएं अपने-अपने अनुरूप रचनाएं करनेके लिये अपने-आपको निम्नतर लोकमें उतार सकती हैं, और फिर ये रचनाएं जड़-जगत्‌के साथ उनका संबंध स्थापित कराती हैं और उनकी क्रियाको यहां प्रत्युत्पादित और प्रसारित करती हैं। और यहां जितनी भी चीजें सृष्ट हुई हैं उनमेंसे प्रत्येक चीजके अपने सूक्ष्मतर कोष या रूप होते हैं जो उस चीजको धारण करते हैं, उसके अस्तित्वको बनाये रखते हैं तथा उसे

उन शक्तियोंके संपर्कमें रखते हैं जो ऊपरसे क्रिया करती हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्यके अपने स्थूल अन्नमय शरीरके अतिरिक्त सूक्ष्म-तर कोष अथवा शरीर भी होता है जिसके द्वारा वह पर्देकी ओट-में चेतनाके जड़ातीत स्तरोंके साथ अपना सीधा संबंध बनाये रखता है और उनकी शक्तियों, गतियों और सत्ताओंसे प्रभावित हो सकता है। जो कुछ क्रिया प्राणमें होती है उसके पीछे सदा ही गुह्य प्राणमय लोकोंकी पूर्वस्थित गतियां या रूप विद्यमान रहते ही हैं; जो कुछ मनमें घटित होता है वह गुह्य मनोमय लोकोंकी पूर्वस्थित गतियों और रूपोंमें पहलेसे ही विद्यमान रहता है। यह पदार्थमात्रका एक ऐसा पहलू है जो, जैसे-जैसे हम क्रियात्मक योगमें अग्रसर होते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारी आंखोंके सामने अधिकाधिक स्पष्ट, स्थायी और महत्त्वपूर्ण होता जाता है।

परंतु इन सब बातोंको बिलकुल अक्षरशः ऐसा ही नहीं सम-झना चाहिये। यह एक ऐसी सर्वतोमुखी निर्बाध गति है जिस-में अनेक प्रकारकी संभावनाओंकी क्रिया होती रहती है और इस-लिये इसे देखनेवाली चेतनाके नमनशील और सूक्ष्म कौशल या बोधशक्तिके द्वारा ही समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यह किसी कठोर न्याय-सूत्र या गणितके सिद्धांतके अंदर आबद्ध नहीं की जा सकती। इस विषयमें यहां दो तीन बातोंपर विशेष जोर देनेकी आवश्यकता है, जिसमें यह नमनीयता हमारी दृष्टिके ओट न हो जाय।

पहली बात यह है कि प्रत्येक लोक अपने ऊपरके और नीचे-के अन्य लोकोंसे संबद्ध रहते हुए भी स्वयं एक स्वतंत्र जगत् है और उसकी अपनी गतियां, शक्तियां, सत्ताएं, वर्ग और रूप हैं

जो मानो उस लोकके लिये और स्वयं अपने लिये ही हों; वह लोक अपने ही नियमोंके अधीन होता है, केवल अपनी ही अभिव्यक्तिके लिये होता है, इस महान् लोकपरंपराके अन्य भागोंके लिये बाह्यतः उसे कोई ख्याल ही नहीं होता। उदाहरणार्थ, अगर हम प्राणमय या सूक्ष्म भौतिक लोकको देखें तो हमें उसके अंदर अनेक कक्षाएं दिखायी पड़ेंगी जो (उनमेंसे अधिकांश) अपने-आपमें ही स्थित हैं, जो इस जड़-जगत्के साथ कोई भी संपर्क नहीं रखतीं और भौतिक तत्त्वोंके अंदर अपने अनुरूप कोई सृष्टि करनेकी बात तो दूर, इस जड़-जगत्में कोई फल उत्पन्न करनेके लिये या इसे प्रभावित करनेके लिये भी किसी प्रकारकी क्रिया नहीं करतीं। हम अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि प्राणमय लोक, सूक्ष्म भौतिक लोक या अन्य किसी लोकमें अगर कोई चीज होती है तो वह इस स्थूल भौतिक जगत्में अपनी अभिव्यक्तिकी एक संभावनामात्र उत्पन्न करती है। परंतु इस गतिहीन और प्रसुप्त संभावनाको क्रियाशील बनानेके लिये या भौतिक सृष्टिके लिये एक वास्तविक प्रेरणाका रूप देनेके लिये कुछ और होना आवश्यक है और वह 'कुछ' हो सकता है उस कार्यके लिये जड़-जगत्से उठनेवाली एक पुकार अर्थात् कोई शक्ति या कोई व्यक्ति भौतिक जगत्में ऐसा होना चाहिये जो अतिभौतिक शक्ति या जगत् या उसके एक अंशके साथ अपना संबंध स्थापित करे और उसे पार्थिव जीवनके अंदर उतार लानेका प्रयत्न करे। अथवा वह 'कुछ' हो सकता है एक ऐसी प्रेरणा जो प्राणमय या अन्य किसी लोकके अंदर उत्पन्न हुई हो अर्थात् कोई प्राणमय सत्ता पृथ्वीके ऊपर अपनी क्रिया फैलानेका प्रयास करे और यहां अपन

लिये एक राज्य स्थापित करे या उन शक्तियोंके खेलकी व्यवस्था करे जिनके लिये वह अपने लोकमें है। अथवा वह 'कुछ' हो सकता है ऊपरका एक दबाव; उदाहरणार्थ, कोई अतिमानसिक या मानसिक शक्ति ऊपरसे अपने किसी रूपको व्यक्त करनेकी चेष्टा करे और प्राणमय स्तरमें ऐसे आकारों और गतियोंको विकसित करे जो जड़ जगत्के अंदर उसकी आत्म-सृष्टिके लिये साधन बन सकें। अथवा वह 'कुछ' हो सकता है इन सब बातों-की एक सम्मिलित क्रिया, और जब ऐसा होता है तब एक सफल सृष्टिकी अत्यधिक संभावना हो जाती है।

दूसरी बात, जो उपर्युक्त कथनसे आप ही सिद्ध होती है, यह है कि पार्थिव जीवनके साथ प्राणमय या दूसरे उच्चतर स्तर-की क्रियाके एक मर्यादित अंशका ही संबंध होता है। परंतु इतनेसे ही इतनी अधिक संभावनाओंकी सृष्टि होती है, जिन्हें न तो पृथ्वी एक साथ अभिव्यक्त ही कर सकती है न अपने अपेक्षाकृत कम नमनीय तत्त्वोंके अंदर धारण ही कर सकती है। ये सभी संभावनाएं कार्यमें परिणत नहीं होतीं; कुछ तो सर्वथा विफल हो जाती हैं और अधिक-से-अधिक ऐसा एक भाव मात्र छोड़ जाती हैं जिसका कुछ भी परिणाम नहीं होता; कुछ विशेष रूपसे प्रयत्न करती हैं, पर प्रतिहत और पराभूत होती हैं, और अगर कुछ समयतक कार्यक्षेत्रमें रहती भी हैं तो परि-णामतः कुछ भी नहीं कर पातीं। कुछ अपनी अर्धांश अभि-व्यक्ति ही कर पाती हैं और प्रायः यही इस संबंधमें साधारण नियम है; और इसका विशेष कारण यह है कि इन प्राणमय या अन्य अतिभौतिक शक्तियोंमें परस्पर भी विरोध होता है और

उन्हें न केवल भौतिक चेतना और जड़-तत्त्वद्वारा उत्पन्न की हुई बाधाओंको ही जीतना पड़ता है, प्रत्युत अपने अंदर ही एक-दूसरे-के प्रति उत्पन्न की हुई बाधाओंको भी पार करना पड़ता है। कुछ संभावनाएं अवश्य ही ऐसी होती हैं जो अधिक पूर्ण और सफल सृष्टि करनेमें समर्थ होती हैं और यही कारण है कि यदि तुम इस सृष्टिकी तुलना उच्चतर लोकमें वर्तमान इसके मूल रूप-के साथ करो तो तुमको दोनोंमें बहुत कुछ सादृश्य दिखायी देगा अथवा यह अपने उस मूलका हूबहू नमूना-सा ही दिखायी पड़ेगा अथवा ऐसा प्रतीत होगा कि यह उस अतिभौतिक वस्तुका ठीक-ठीक भौतिक रूप ही है। परंतु फिर भी यहां यह सादृश्य केवल बाह्य रूपमें ही है; किसी वस्तुका कोई दूसरी वस्तु बन जाना, और व्यक्त होनेके लिये किसी दूसरे छंदमें ढल जाना ही एक प्रकार-का विभेद उत्पन्न कर देता है। जो कुछ अभिव्यक्त होता है वह एक बिलकुल नयी चीज होता है और इसीमें उस सृष्टिकी सार्थकता है। उदाहरणार्थ, भला पृथ्वीपर विज्ञानमय सृष्टिकी क्या उपयोगिता हो सकती है यदि वह ठीक वही चीज हो जो चीज विज्ञानमय लोकमें विज्ञानमय सृष्टि है? तत्त्वतः तो यह वही चीज है, पर फिर भी कुछ दूसरी चीज है, भगवान्का एक गौरव-मय नवीन आत्माविष्करण है उन अवस्थाओंमें जो अन्यत्र कहीं नहीं हैं।

निस्संदेह, सूक्ष्म भौतिक लोक इस स्थूल भौतिक लोकके अत्यंत समीप है और बहुत कुछ इसके ही जैसा है। पर फिर भी वहांकी परिस्थिति एकदम भिन्न है, और वह चीज भी एक-दम दूसरी है। उदाहरणार्थ, सूक्ष्म भौतिक लोकमें एक प्रकारकी

स्वतंत्रता, नमनीयता, तीव्रता, शक्ति, वर्ण और विशाल तथा बहुमुखी क्रीड़ा है (वहां हजारों चीजें ऐसी हैं जो यहां नहीं हैं) जिनके होनेकी अभीतक इस पृथ्वीपर कोई संभावना नहीं है। और फिर भी यहां कोई ऐसी चीज है, भगवान्‌के प्राकट्यकी कोई ऐसी संभावना है जो उस विशालतर स्वतंत्रतावाले लोकमें नहीं है, जो सृष्टिकार्यमें बहुत कठिनाई उत्पन्न करती है, पर अंतमें उस प्रयासको सार्थक भी बनाती है।

१ सितम्बर १९३०

आरोहण और अवरोहणकी गति

ये जो दो गतियां हैं, जिनका बाहरमें दिखायी देनेवाला पारस्परिक विरोध तुम्हारी बुद्धिको भ्रममें डाल रहा है, ये एक ही चेतनाके दो छोर हैं। इन दोनोंकी क्रियाएं अभी एक-दूसरेसे पृथक् अवश्य हैं, परंतु प्राणशक्तिको यदि अपने कार्यमें अधिकाधिक पूर्णता और सिद्धि प्राप्त करनी हो या जिस रूपांतरकी हम आशा कर रहे हैं उसे सिद्ध होना हो तो इन दोनोंकी क्रियाओंको परस्पर युक्त होना ही होगा।

इन दोनोंमें एक छोर तो है प्राणमय सत्ता और तदंतर्गत प्राणशक्ति। दूसरा छोर है उच्चतर चेतनाकी प्रच्छन्न क्रियात्मिका शक्ति जिसके द्वारा ही भागवत सत्य कार्य कर सकता है, प्राणमय सत्ता और उसकी प्राणशक्तिको अपने हाथमें ले सकता है, और यहां एक महत्तर उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उसका उपयोग कर सकता है।

प्राणकी शक्ति वह अनिवार्य यंत्र है जिसके बिना इस जगत् तथा भौतिक प्रकृतिमें भागवती शक्तिका कोई भी कार्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि जब यह प्राण रूपांतरित हो जायगा और भागवती शक्तिका शुद्ध और शक्तिशाली यंत्र बन जायगा तभी दिव्य जीवन प्राप्त करना संभव होगा। केवल उसी अवस्थामें भौतिक प्रकृतिका सफलतापूर्वक रूपांतर हो सकेगा अथवा

बाह्य जगत्‌में निर्विघ्न और पूर्ण दिव्य कर्म हो सकेगा; अभी जो साधन हमें प्राप्त हैं उनके द्वारा ऐसा कर्म होना असंभव है। इसी कारण तुम यह अनुभव करते हो कि हमें जितनी शक्तिकी आवश्यकता होती है उतनी सब प्राणकी क्रियासे ही मिलती है, इस शक्तिके द्वारा चाहे जो कार्य किया जा सकता है और चाहे जो अनुभव, अच्छा हो या बुरा, साधारण जीवनका हो या आध्यात्मिक, प्राप्त किया जा सकता है, —और फिर इसी कारण जब यह शक्ति आती है तब तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारी शरीर-चेतनामें और स्थूल शरीरमें बलका संचार हो रहा है। प्राणके अंदर जो भगवती माताका तुम्हें संस्पर्श प्राप्त हुआ और तुम्हें वह बड़ा ही सुंदर और महान् अनुभव प्रतीत हुआ,—वह भी स्वाभाविक और ठीक ही था; क्योंकि प्राणको भी हृत्पुरुष तथा सत्ताके अन्य प्रत्येक भागके समान ही भगवती माताका अनुभव प्राप्त करना होगा और पूर्ण रूपसे अपने-आपको उनके चरणोंमें समर्पित करना होगा।

पर इस बातको सदा ध्यानमें रखना चाहिये कि मनुष्यके अंदर जो प्राणमय सत्ता और प्राणशक्ति हैं वे दोनों दिव्य ज्योतिसे विच्छिन्न हैं और इस तरह विच्छिन्न होनेके कारण वे किसी भी शक्तिके यंत्र बन सकते हैं जो उनपर अपना अधिकार जमा सके, भले ही वह शक्ति प्रकाशमयी हो या अंधकारमयी, दैवी हो या आसुरी। साधारणतः यह प्राणशक्ति मनुष्यके मन और प्राणकी सामान्य तमसाच्छन्न या अर्ध-चेतन गतियोंके द्वारा ही, उनकी सामान्य भावनाओं, स्वार्थों, आवेशों और वासनाओंके द्वारा ही परिचालित होती है। परंतु प्राणशक्तिके लिये यह

संभव है कि वह अपनी साधारण सीमाओंको तोड़कर और भी अधिक बढ़ सके और, अगर वह इस प्रकार बढ़ सके, तो उसे एक ऐसा प्रवेग, ऐसी प्रगाढ़ता, ऐसी उत्तेजना या क्षमताओंकी ऐसी उत्तुंगता प्राप्त हो सकती है कि वह या तो देवताओंकी शक्तियोंका या असुरोंकी शक्तियोंका यंत्र बन सकती है, बननेके लिये प्रायः बाध्य होती है। अथवा, प्रकृतिके अंदर यदि कोई सुदृढ़ केंद्रीय नियंत्रण न हो तो उसकी क्रियामें इन दोनों विरोधी शक्तियोंकी क्रियाओंका विश्रृंखल सम्मिश्रण हो सकता है या किसी एक ओर यह जमकर नहीं ठहर सकती, कभी एकका कार्य कर सकती है तो कभी दूसरीका। इसलिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि तुम्हारे अंदर एक प्रचंड प्राण-शक्ति कार्य करने लगे; उसे उच्चतर चेतनाके संपर्कमें ले आना होगा, उसे सच्चे नियंत्रणके प्रति समर्पित करना होगा, भगवान्के शासनके अधीन कर देना होगा। कभी-कभी जो प्राण-शक्तिकी क्रियाके प्रति अवज्ञा या घृणाका भाव उठता है इसका कारण यही है कि उसमें प्रकाश और संयमकी मात्रा पर्याप्त नहीं है और एक अज्ञानमयी आसुरी वृत्तिके साथ उसका गठबंधन हो गया है। यह भी एक कारण है जिससे यह आवश्यक हो जाता है कि प्राणशक्ति एक उच्चतर उद्गमसे आनेवाली स्फुरणा और शक्तिके प्रति उद्घाटित हो। प्राणशक्ति स्वयं कुछ नहीं कर सकती, वह विचित्र ढंगसे, बहुधा दुःख-दर्दसे भरे और नाशकारी चक्कर काटा करती है, यहांतक कि अधःपतनकी ओर ले जाती है, क्योंकि उसे कोई ठीक रास्ता बतानेवाला नहीं; उसे उच्चतर चेतनाकी क्रियात्मिका शक्तिके साथ और उस शक्तिके द्वारा एक महान्

और ज्योतिर्मय सिद्धिके लिये कार्य करनेवाली भागवत शक्तिके साथ अवश्य युक्त कर देना चाहिये।

इस संबंधको स्थापित करनेके लिये दो गतियोंका होना आवश्यक है। एक गति है ऊर्ध्वमुखी; इसमें प्राणशक्ति उच्चतर चेतनाके साथ युक्त होनेके लिये ऊपर उठती है और एक उच्च-तर शक्तिके प्रकाश और प्रभावसे ओतप्रोत हो जाती है। दूसरी गति है निम्नमुखी; इसमें प्राणशक्ति निश्चल-नीरव, शांत, शुद्ध तथा सामान्य गतियोंसे रिक्त रहती है और तबतक प्रतीक्षा करती है जबतक क्रियात्मिका शक्ति ऊपरसे उसके अंदर अवतरित हो-कर उसे अपने सच्चे स्वरूपमें परिवर्तित और उसकी गतियों-को ज्ञान और बलसे परिपूरित नहीं कर देती। इसी कारण कभी-कभी साधकको यह अनुभव होता है कि वह एक अधिक सुखपूर्ण और महान् चेतनाके अंदर ऊपर उठ रहा है, एक अधिक उज्वल राज्य और विशुद्ध अनुभूतिके अंदर प्रवेश कर रहा है, पर कभी-कभी इसके विपरीत यह भी अनुभव करता है कि प्राणमय लोकमें ही उसे वापस लौट जाने, वहीं साधना करने और वहीं सत्-चेतनाको उतार लानेकी आवश्यकता है। इन दोनों गतियोंमें वास्तवमें कोई विरोध नहीं; ये एक-दूसरेको पूर्ण बनाती हैं और एक-दूसरेके लिये आवश्यक हैं; आरोहणसे दिव्य अवतरण संभव होता है और अवतरणसे वह पूर्णता अनिवार्य रूपसे सिद्ध होती है जिसे प्राप्त करनेके लिये आरोहण किया जाता है।

जब तुम प्राणके साथ उसके निम्नतर क्षेत्रके ऊपर उठते हो और उसे हृत्पुरुषके साथ युक्त कर देते हो तब तुम्हारी प्राणमय

सत्ता उस विशुद्ध अभीप्सा और भक्तिसे भर जाती है जो हृत्-पुरुषमें स्वभावतः ही होती है; और इसके साथ-ही-साथ यह प्राण हृदयके भावोंको अपनी प्रचुर शक्तिसे भर देता है और उन्हें, समूची प्रकृतिको, नीचेतक उसके अत्यंत स्थूल भागतकको परिवर्तित करनेके लिये तथा पार्थिव जड़तत्त्वके अंदर दिव्य चेतनाको नीचे उतार लानेके लिये क्रियाशील बनाता है। जब वह हृत्पुरुषको केवल स्पर्श ही नहीं करता बल्कि उच्चतर मनके साथ एकरस हो जाता है तब वह एक महत्तर ज्योति और ज्ञानके संपर्कमें आता है और उनके आदेशका अनुसरण करता है। साधारणतः प्राण या तो मानव-मनके द्वारा परिचालित होता है और इसीके अल्पाधिक अज्ञानमय निर्देशोंसे नियंत्रित होता है, अथवा इस मनपर ही बलपूर्वक अपना अधिकार जमा लेता है और अपने आवेगों, प्रेरणाओं और कामनाओंकी तृप्तिके लिये इसका उपयोग करता है। अथवा वह इन दोनों गतियोंको एक साथ मिला देता है; क्योंकि सामान्य मानव-मन इतना मूढ़ होता है कि वह न तो इससे अच्छा कोई कार्य ही कर सकता है न पूर्ण रूपसे पथप्रदर्शन ही कर सकता है। परंतु जब प्राण उच्चतर मनके संपर्कमें आ जाता है तब वह एक महत्तर ज्योति और ज्ञानके द्वारा, एक उच्चतर अंतर्ज्ञान और अंतःस्फुरणाके द्वारा एक शुद्धतर विवेक तथा भागवत सत्य और भागवत संकल्पके प्रत्यक्ष प्रकाशके द्वारा परिचालित होनेके योग्य हो जाता है। प्राणका इस प्रकार हृत्पुरुष तथा उच्चतर मानसके निर्देशाधीन होनेका मतलब है कि यौगिक चेतनाने बाह्य जीवनके ऊपर प्रभावोत्पादक क्रिया करना आरंभ कर दिया है।

परंतु दिव्य जीवन प्राप्त करनेके लिये यह भी पर्याप्त नहीं है। उच्चतर मानस-चेतनाके संपर्कमें आना पर्याप्त नहीं है, यह तो केवल एक अनिवार्य अवस्था-विशेष है। इससे भी कहीं उच्चतर तथा अधिक शक्तिमय लोकोंसे स्वयं भागवत शक्तिका अवतरण होना आवश्यक है। उन अदृश्यमान शिखरोंसे अवतरित होनेवाली इस भागवती शक्तिके बिना उच्चतर चेतनाका विज्ञानमय ज्योति और शक्तिमें, प्राणमय सत्ता और उसकी प्राणशक्तिका भागवती शक्तिके एक विशुद्ध, विशाल, प्रशांत, वेगवान् और शक्तिशाली यंत्रमें, स्वयं इस शरीरका दिव्य ज्योति, दिव्य कर्म, शक्ति, सौंदर्य और आनंदकी एक मूर्तिमें रूपांतरित होना असंभव है। यही कारण है कि इस योगमें भगवान्की ओर आरोहण ही, जो अन्य योगमार्गोंमें भी पाया जाता है, पर्याप्त नहीं माना जाता; उसके साथ-ही-साथ मन, प्राण और शरीरकी सारी शक्तियोंको रूपांतरित करनेके लिये भगवान्का अवतरण भी अवश्य होना चाहिये।

८ नवम्बर १९२९

पाश्चात्य दर्शन और योग

यूरोपीय दार्शनिक विचार—यहांतक कि जो मनीषीगण ईश्वर या परम सत्के अस्तित्व और स्वरूपको सिद्ध करने या समझाने-का प्रयत्न करते हैं उनका विचार भी—अपनी पद्धति और सिद्धांतमें बुद्धिके परे नहीं पहुँचता। परंतु यह बुद्धि परम सत्यको कभी नहीं जान सकती; वह तो सत्यकी खोजमें केवल इधर-उधर भटक सकती है, और स्वयं सत्य वस्तुको नहीं वरन् उसके खंड प्रतिरूपोंको पकड़ सकती है तथा उन्हें एक साथ जोड़नेकी चेष्टा कर सकती है। मन-बुद्धि कभी सत्यको नहीं प्राप्त कर सकती; वह केवल ऐसे एक रूप या रूप-समूहकी कल्पना कर सकती है जो सत्यका कुछ आभास देनेकी चेष्टा करे। अतएव यूरोपीय विचारका अंत, प्रकट या अप्रकट रूप-में, बराबर ही अज्ञेयवादमें होना अनिवार्य है। अगर बुद्धि सच्चाई-के साथ अपनी हदतक पहुँचे तो उसे वहांसे लौटकर यही कहना पड़ेगा कि "मैं नहीं जान सकती; परे कुछ है, अथवा कम-से-कम मुझे ऐसा मालूम होता है कि परे कुछ हो सकता है, कोई अंतिम सद्वस्तु हो सकती है, अथवा उसे होना ही चाहिये, परंतु उसके सत्यके विषयमें मैं केवल उत्प्रेक्षा कर सकती हूं; वह या तो अज्ञेय है या मेरे द्वारा नहीं जानी जा सकती।" अथवा अगर उसने अपनी खोजके बीचमें अपनेसे परेकी चीजकी

कुछ ज्योति पायी हो तो वह यह भी कह सकती है कि "सं-भवतः मनके परे भी एक चेतना है, क्योंकि ऐसा मालूम होता है कि मैं उसकी कुछ झलक पा रही हूँ और यहांतक कि उसकी सूचनाएँ भी पाती हूँ। अगर वह चेतना परात्परके संपर्कमें हो या अगर वह स्वयं परात्परकी ही चेतना हो और तुम कोई रास्ता उसे प्राप्त करनेके लिये ढूंढ़ सको तो फिर वह 'कुछ' जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं।"

अतएव केवल बुद्धिके द्वारा परम सत्यकी चाहे किसी प्रकार-की खोज हो, उसका पर्यवसान या तो इसी प्रकारके अज्ञेयवादमें होगा अथवा किसी बौद्धिक दर्शन-शास्त्र या मनःकल्पित सिद्धांतमें होगा। अबतक ऐसे सैकड़ों दर्शन-शास्त्र और सिद्धांत बन चुके हैं और सैकड़ों और बन सकते हैं, परंतु उनमेंसे कोई भी अंतिम नहीं माना जा सकता। उनमेंसे प्रत्येकका मनके लिये कुछ मूल्य हो सकता है, और विभिन्न दर्शन और उनके परस्पर-विरोधी सिद्धांत समान शक्ति और योग्यता रखनेवाले बुद्धि-मानोंको समान रूपसे आकर्षित कर सकते हैं। इन सभी गवेषणात्मक प्रयासोंकी उपयोगिता है, ये प्रयास मानवमनको अभ्यस्त बनाते तथा सहायता करते हैं जिसमें वह अपने सामने उस परम और चरम 'कुछ'की भावनाको रख सके जिसकी ओर लौटना उसके लिये अनिवार्य है। परंतु बुद्धि अस्पष्ट रूपमें उसका संकेत भर कर सकती है अथवा अंधकारमें टटोलनेकी तरह उसे खोज सकती है अथवा यहांपर हुई उसकी अभिव्यक्ति-के आंशिक और यहांतक कि विरोधी पहलुओंकी ओर संकेत कर सकती है, वह उसके अंदर प्रवेश नहीं कर सकती, उसे जान

नहीं सकती। जबतक हम केवल बुद्धिके क्षेत्रमें रहते हैं तबतक बस इतना ही हम कर सकते हैं कि जो कुछ सोचा-विचारा और ढूंढ़ा जा चुका है उसका निष्पक्ष होकर मनन करें, अपनी बुद्धि-के अंदर लगातार सब प्रकारकी भावनाओंको उत्पन्न करते रहें, और चाहे किसी एक दार्शनिक विश्वास, मत या निर्णयका मन-ही-मन निरूपण करते रहें। कोई भी व्यापक और नमनशील बुद्धि बस अधिक-से-अधिक इसी प्रकार सत्यका पक्षपातरहित अनु-संधान कर सकती है। परंतु इस प्रकार वह जिस किसी निर्णय-पर पहुँचेगी वह केवल आनुमानिक ही होगा, उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं हो सकता; वह कोई भी असंदिग्ध अनुभव या आध्यात्मिक निश्चय नहीं दे सकता जिसकी खोज जीव करता है। अगर बुद्धि ही हमारा सर्वश्रेष्ठ यंत्र हो और अतिभौतिक सत्यको प्राप्त करनेका अन्य कोई साधन न हो तो फिर युक्ति-युक्त और सुविशाल अज्ञेयवाद ही हमारे लिये चरम मनोभाव हो सकता है। ऐसी अवस्थामें व्यक्त पदार्थोंको तो कुछ अंश-में जाना जा सकता है, पर परात्पर तत्त्व और जो कुछ मनके परे है वह चिरकालके लिये अज्ञात ही रह जायगा।

चरम सद्वस्तुको हम तभी जान सकते हैं और तभी उस-में प्रवेश कर सकते हैं जब मनके परे कोई महत्तर चेतना हो और उस चेतनाको प्राप्त करना हमारे लिये संभव हो। ऐसी कोई महत्तर चेतना है या नहीं—इस विषयमें अगर हम बुद्धिके द्वारा कल्पना करते रहें या नैयायिक युक्तिवादका अनुसरण करते रहें तो उससे हमें कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। इसके लिये तो हमें एक ऐसे मार्गकी आवश्यकता है जिससे हमें उसका

अनुभव हो सके, उसके पासतक हम पहुँच सकें, उसमें हम प्रवेश कर सकें और उसमें हम निवास कर सकें। यदि ऐसा मार्ग हमें मिल जाय तो फिर बौद्धिक कल्पना और युक्ति-तर्कका स्थान अवश्य ही गौण हो जायगा और यहांतक कि उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जायगी। दर्शन-शास्त्र, बुद्धिके द्वारा सत्यको प्रकट करनेका कार्य, बना रह सकता है, पर मुख्यत: एक साधनके रूपमें जिसके द्वारा सत्यके इस महत्तर आविष्कारको प्रकट किया जा सके और उसका उतना ही अंश जितना कि मन-बुद्धिमें ही रहनेवाले लोगोंको बुद्धिकी भाषामें समझाना संभव हो सके।

इसीमें तुम्हारी उस बातका भी उत्तर आ जाता है जो तुमने ब्राडले तथा अन्य पाश्चात्य दार्शनिकोंके विषयमें लिखी है। वे लोग बौद्धिक चिंतनके द्वारा एक 'विचारातीत अन्य सत्ता' की भावनातक पहुँचे हैं अथवा उसके बारेमें, ब्राडलेकी भांति, अपने निर्णयको ऐसे शब्दोंमें भी उन्होंने प्रकट करनेकी चेष्टा की है जो 'आर्य' में लिखी हुई कुछ बातोंसे मिलते-जुलते हैं। वह भावना स्वयं कोई नयी भावना नहीं है; वह उतनी ही पुरानी है जितने पुराने स्वयं वेद हैं। उस भावनाको बौद्धमत, क्रिश्चियन ज्ञानवाद, सूफी-संप्रदाय आदिमें भी अन्य रूपोंमें व्यक्त किया गया है। मूलत: वह भावना बौद्धिक कल्पनाके द्वारा नहीं प्राप्त की गयी थी, बल्कि आंतरिक आध्यात्मिक साधना करनेवाले योगियोंके द्वारा आविष्कृत हुई थी। जब, ईसासे पूर्व सातवीं और पांचवीं शताब्दीके बीचमें, पूर्वी और पश्चिमी दोनों देशोंमें मनुष्योंने ज्ञानको बुद्धिगत करना आरंभ किया तब वह सत्य पूर्वके

देशोंमें तो बना रहा, पर पश्चिमके देशोंमें, जहां बुद्धिको ही सत्यके आविष्कारके लिये एकमात्र या सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार कर लिया गया, वह अस्त होने लगा। फिर भी, वहां भी वह बारबार प्रकट होनेका प्रयास करता रहा; नियो-प्लेटोनिस्ट संप्रदायवाले उसे लौटा लाये थे। और अब, ऐसा मालूम होता है कि, नियो-हेगेलियन संप्रदायवाले तथा अन्य लोग (मेरी धारणाके अनुसार रूसके आउसपेन्सकी और दो-एक जर्मन दार्शनिक) उसको प्राप्त करनेके रास्तेपर हैं। परंतु फिर भी अभी काफी अंतर है।

पूर्वी देशोंमें, विशेषकर भारतमें, दार्शनिक विचारकोंने, पश्चिमी देशोंकी तरह ही, बुद्धिके द्वारा परम सत्यके स्वरूपको निश्चित करनेका प्रयास किया है। परंतु सबसे पहली बात यह है कि उन्होंने सत्यानुसंधानके साधनके रूपमें मानसिक चिंतनको सबसे ऊंचा स्थान नहीं दिया है वल्कि उसे केवल गौण स्थान ही दिया है; सर्वप्रधान स्थान सदा ही संबोधि, ज्ञान-ज्योति और आध्यात्मिक अनुभूतिको दिया गया है; और जो बौद्धिक निर्णय इस परम प्रमाणका विरोधी हो उसे अप्रामाणिक ही माना गया है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक दर्शन चैतन्यकी परमावस्था प्राप्त करानेवाला एक व्यावहारिक मार्ग वतलाता है और इस कारण अगर कोई व्यक्ति विचार-वितर्कसे आरंभ भी करता है तो भी अंतमें उसका उद्देश्य मन-बुद्धिसे परेकी एक चेतनाको प्राप्त करना ही होता है। प्रत्येक दर्शनके प्रवर्त्तक (तथा उनके कार्य या मतको चलानेवाले आचार्य भी) एक साथ ही जैसे दार्शनिक थे वैसे ही योगी भी थे। जो केवल दार्शनिक विद्वान् हुए वे

अपनी विद्वत्ताके लिये आदरणीय तो समझे गये पर कभी सत्यके द्रष्टा या आविष्कारकका स्थान उन्हें नहीं प्राप्त हुआ। और जिन दर्शनोंमें आध्यात्मिक अनुभूतिका पर्याप्त और शक्तिशाली साधन नहीं था वे लुप्त हो गये और भूतकालकी वस्तु बन गये; क्योंकि उनमें आध्यात्मिक आविष्कार और उपलब्धि करानेकी शक्ति नहीं थी।

पश्चिमी देशोंमें ठीक इसके विपरीत हुआ। वहां चिंतन, बुद्धि और युक्तिवादको ही अधिकाधिक श्रेष्ठतम स्थान और यहां-तक कि अंतिम लक्ष्यतक माना जाने लगा। वहां दर्शनमें बौद्धिक चिंतन ही अब अथ और इति माना जाता है। वहां लोग ऐसा समझते हैं कि बौद्धिक चिंतन और अनुमानके द्वारा ही सत्यका पता लगाया जा सकता है; आध्यात्मिक अनुभव भी तभी प्रामाणिक माना जा सकता है जब वह बुद्धिकी कसौटीपर खरा उतरे—और यह ठीक भारतीय भावनाके विपरीत है। यहांतक कि वे लोग भी जो यह समझते हैं कि बौद्धिक विचारके परे पहुंचना होगा और जो मानसातीत 'कुछ' को स्वीकार करते हैं, वे भी इस भावनासे बचे हुए नहीं मालूम होते कि केवल मानसिक विचारके द्वारा ही, उसे विशुद्ध और परिवर्तित करके उसीकी सहायतासे सत्यको प्राप्त करना होगा और उसे मनकी परिच्छिन्नता और अज्ञानके स्थानमें लाकर बैठाना होगा। और इसके अतिरिक्त पाश्चात्य चिंतन अब जीवनके लिये कार्यकारी नहीं रहा; वह अब वस्तुओंके सिद्धांतको ही खोजता रहता है, आध्यात्मिक अनुभूतिको नहीं। प्राचीन यूनानियोंका चिंतन फिर भी जीवनके लिये कार्यकारी था, पर उसका झुकाव भी आध्या-

त्मिक उपलब्धिकी अपेक्षा सदाचार और सौंदर्य-बोधकी ओर कहीं अधिक था। पीछे चलकर तो उसने और भी अधिक विशुद्ध बौद्धिक और थोथा पांडित्यपूर्ण रूप ग्रहण कर लिया; वह केवल बौद्धिक गवेषणामें परिणत हो गया और उसमें किसी आध्यात्मिक प्रयोग, अन्वेषण और रूपांतरके द्वारा सत्यको प्राप्त करनेका कोई मार्ग या साधन नहीं रह गया। अगर यह अंतर न होता तो तुम्हारे-जैसे साधकोंके लिये पूर्वीय देशोंको अपना पथप्रदर्शक मानने-का कोई कारण न होता; क्योंकि विशुद्ध बौद्धिक क्षेत्रमें पाश्चात्य दार्शनिक किसी भी प्राच्य ज्ञानीसे कम योग्यता नहीं रखते। यूरोपीय मनके आत्यंतिक बुद्धिवादने जो चीज खो दी है वह है वह आध्यात्मिक मार्ग, वह साधन-पथ जो बौद्धिक स्तरोंसे परे ले जाता है, बाह्य सत्तासे अंतरतम आत्मामें पहुंचा देता है।

तुमने ब्राडले और जोचिमके लेखोंके जो उद्धरण मेरे पास भेजे हैं, उनमें भी बुद्धिका ही अपने परेकी वस्तुका विचार करने तथा उसके विषयमें एक बौद्धिक, यौक्तिक और आनुमानिक सिद्धांतपर पहुंचनेका प्रयास दिखायी पड़ता है। यहांपर बुद्धि जिस परिवर्तनका वर्णन करनेकी चेष्टा कर रही है उसे जीवनमें उतार लानेकी शक्ति उसमें नहीं है। अगर ये लेखक उस 'विचारातीत अन्य सत्ता' की किसी अनुभूतिका, यहांतक कि किसी मानसिक, किसी संबोधिजन्य अनुभूतिका भी वर्णन बुद्धिकी भाषामें किये होते तो जो कोई उसके लिये तैयार होता वह उसे उनके व्यवहृत भाषाके आवरणको भेदकर हृदयंगम कर सकता और उस अनुभूतिके समीप पहुँच सकता। अथवा, यदि अपने बौद्धिक सिद्धांतपर पहुंचनेके बाद उन्होंने कोई रास्ता ढूंढ़कर या पहलेसे

ढूंढ़े हुए रास्तेपर चलकर उसकी आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त की होती तो उनके विचारोंका अनुसरण कर मनुष्य उसी अवस्थामें पहुँचनेके लिये अपनेको प्रस्तुत कर सकता। परंतु इन सब आयासपूर्ण चिंतनोंमें ऐसी कोई बात नहीं। ये बुद्धिके क्षेत्रमें ही आबद्ध हैं और उस क्षेत्रके अंदर निस्संदेह ये प्रशंसनीय हैं। परंतु आध्यात्मिक अनुभूतिके लिये इनसे कोई शक्ति नहीं मिल सकती।

केवल संपूर्ण सद्वस्तुका विचार करके नहीं, वरन् चेतनाका परिवर्तन करके ही कोई अज्ञानसे निकलकर ज्ञानमें पहुंच सकता है—उस ज्ञानमें जिसके द्वारा हम जो कुछ जानते हैं वही हो जाते हैं। बाह्य चेतनासे निकलकर प्रत्यक्ष और प्रगाढ़ अंतश्चेतनामें पहुंचना, अहंकार और शरीरकी सीमाओंसे बाहर निकालकर चेतनाको विशाल बनाना, उसे एक आंतर संकल्प, अभीप्सा तथा ज्योतिके प्रति उद्घाटनके द्वारा मन-बुद्धिसे परे ऊपर उठा ले जाना, आत्मदान और आत्मसमर्पणके द्वारा विज्ञानमय भगवान्‌को नीचे अवतरित कराना और उसके फलस्वरूप मन, प्राण और शरीरको रूपांतरित करना ही सत्य* को प्राप्त करनेका सर्वांगपूर्ण मार्ग है। इसीको हम लोग यहां सत्य कहते हैं और इसे ही प्राप्त करना हमारे योगका लक्ष्य है।

१५ जून १९३०

---

*मैंने यह कहा है कि विज्ञानकी भावना प्राचीन कालसे ही वर्तमान है। भारतम तथा अन्यान्य देशोंमें भी ऊपर उठकर वहांतक पहुंचनेकी चेष्टा की गयी थी, पर जिस बातकी ओर

अज्ञेयवादियों और वेदांतियोंका अज्ञेय

मैं नहीं समझता कि उस आदमीको अध्यात्मके विषयमें कुछ भी कहकर समझाया जा सकता है जो अध्यात्मकी दृष्टिके ठीक विपरीत दृष्टिसे देखना, विक्टोरियाके युगके यूरोपियन अज्ञेय-वादियोंकी दृष्टिसे देखना आरंभ करता है। ऐसा व्यक्ति योगा-नुभूतिके मूल्यके विषयमें, अपनी आंतरिक और विशुद्ध वैयक्तिक शंकाओंके अतिरिक्त यह शंका भी उठाता है कि वह वैज्ञानिक (Scientific) सत्यको प्राप्त करना नहीं चाहती और फिर उसके विषयमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसने चरम सत्यको प्राप्त किया है, क्योंकि ऐसी अनुभूतियां द्रष्टाके व्यक्तित्व-से रंगी हुई होती हैं। परंतु यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या स्वयं सायंसने किसी चरम सत्यको पाया है? नहीं, इसके विपरीत इस भौतिक लोकतकका चरम सत्य भी वैसे-वैसे पीछे ही हटता हुआ-सा मालूम होता है जैसे-जैसे सायंस आगे बढ़ती जाती है। सायंसने यह मानकर आगे बढ़ना आरंभ किया

ध्यान नहीं दिया गया वह थी वह साधना जिससे उस विज्ञानके साथ जीवनका अखंड संबंध हो जाता और उसे समस्त प्रकृतिको, यहांतक कि इस भौतिक प्रकृतिको भी रूपांतरित करनेके लिये नीचे उतारा जा सकता।

था कि चरम सत्य भौतिक और बाह्य विषयभूत ही हो सकता है—और यह बाह्य-विषयभूत चरम सत्य (अथवा उससे कुछ नीचे-का ही सही) समस्त आंतर विषयोंका भी रहस्य खोल देगा। परंतु योग एकदम इससे विपरीत यह दृष्टि लेकर आगे बढ़ता है कि चरम सत्य है आध्यात्मिक और आंतरिक और केवल उसी चरम ज्योतिके अंदर हमें बाह्य जगत्को भी देखना होगा। ये दोनों उत्तर-दक्षिण ध्रुवकी भांति एक-दूसरेसे सर्वथा विरुद्ध दिशामें हैं और इनके बीच एक इतनी बड़ी खाड़ी है जिसका कोई पारावार नहीं।

जो हो, योग इस हदतक तो सायंस-जैसी पद्धतिसे चलनेवाला है ही कि वह आंतरिक प्रयोगसे आरंभ होता है और अपने सारे सिद्धांतोंको अनुभूतिके आधारपर निश्चित करता है। मन-बुद्धिमें होनेवाली अंतःस्फुरणाएं तो केवल आरंभकी ही चीजें मानी जाती हैं, और उन्हें सिद्धिके रूपमें नहीं स्वीकार किया जाता —आध्यात्मिक अनुभूतिमें परिणत होनेपर ही वे स्वीकृत हो सकती हैं और अनुभूतिके द्वारा ही वे प्रस्थापित हो सकती हैं। स्वयं अनुभूतिके मूल्यके विषयमें जो स्थूल मनको संदेह होता है उसका कारण यह है कि अनुभूति अंदरकी वस्तु है, बाहरकी नहीं; पर क्या इस अंदर-बाहरके भेदका कोई विशेष मूल्य है? क्या प्रत्येक ज्ञान और अनुभव मूलमें आंतरिक ही नहीं होता? इंद्रियग्राह्य बाह्य भौतिक वस्तुओंको जो सभी मनुष्य अधिकांश-में एक ही प्रकारसे देखते हैं उसका कारण यह है कि सबके मन और इंद्रियोंकी बनावट प्रायः एक जैसी है; मन और इंद्रियोंकी बनावट अगर दूसरे प्रकारकी हो तो फिर भौतिक जगत्का विव-

रण वे एकदम दूसरा ही देंगी—और इस बातको स्वयं सायंसने भी बहुत अधिक स्पष्ट कर दिया है। परंतु तुम्हारे मित्रका कहना यह है कि यौगिक अनुभूति व्यक्तिगत होती है, वह देखने-वाले व्यक्तिके व्यक्तित्वसे रंगी हुई होती है। यह बात किसी विशिष्ट भूमिकामें प्राप्त अनुभूतिके ठीक-ठीक आकार या रूपके विषयमें एक हदतक ठीक हो सकती है, परंतु यहां भी यह भेद केवल ऊपरी ही होता है। यह बात एकदम सच्ची है कि यौगिक अनुभूति सर्वत्र एक ही धाराका अनुसरण करती है। अवश्य ही एक ही नहीं बल्कि अनेक धाराएं हैं; क्योंकि यह मानना ही पड़ेगा कि हमारा संबंध अनेक रूपवाले अनंतके साथ है और उनतक पहुंचनेके अनेक मार्ग हैं और होने ही चाहियें; परंतु फिर भी प्रधान-प्रधान धाराएं सर्वत्र एक-सी ही हैं और एक-दूसरेसे अत्यंत दूर देशों और कालोंमें तथा एक-दूसरेसे सर्वथा पृथक् साधन-मार्गोंसे साधना करनेवाले साधकोंको भी एकसे ही अंतर्ज्ञान और अनुभव प्राप्त होते तथा दृश्य दिखायी देते हैं। मध्यकालीन यूरोपीय भक्त या योगीके अनुभव मूलतः ठीक-ठीक वही हैं जो मध्यकालीन भारतीय भक्त या योगीके हैं, चाहे उनके नामों, रूपों और धार्मिक रंगोंमें जितना भी अंतर क्यों न हो—फिर भी ये लोग न तो एक-दूसरेके साथ पत्र-व्यवहार ही करते थे न एक-दूसरेकी अनुभूतियों तथा परिणामोंसे ही परिचित थे जैसे कि आजकलके न्यूयार्कसे योकोहामातकके सभी वैज्ञानिक एक-दूसरेकी बातें जानते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योग-साधनामें कोई ऐसी बात है जो सर्वत्र एक रूपमें पायी जाती है, विश्वजनीन है और सत्य स्वीकार करने योग्य है—

भले ही मनकी भाषामें अंतर होनेके कारण उसके वर्णित रूपमें चाहे जितना भी भेद क्यों न हो जाय।

चरम सत्यके विषयमें मैं समझता हूं कि विक्टोरिया-कालीन यूरोपीय अज्ञेयवादी और भारतीय वैदांतिक दोनों ही इस बातमें संभवतः सहमत होंगे कि वह छिपा हुआ है पर है सही। दोनों ही उसे अज्ञेय कहते हैं, दोनोंमें अंतर केवल इतना ही है कि वैदांतिक कहते हैं कि वह मनके लिये अज्ञेय और वाणीके लिये अनिर्वचनीय है, परंतु फिर भी मनकी बोध-शक्तिसे कहीं गभीर-तर या उच्चतर एक वस्तुके द्वारा वह प्राप्त हो सकता है और मन भी उसके सहस्र रूपोंको, जिन्हें वह मनकी आंतर और बाह्य अनुभूतिमें प्रकट करता है, प्रतिबिंबित कर सकता है और वाणी भी व्यक्त कर सकती है। पर मैं समझता हूं कि यूरोपीय अज्ञेय-वादी इस विशेषताको अस्वीकार कर देंगे; वे यह कह बैठेंगे कि अज्ञेयकी सत्ता संदिग्ध है और अगर उसकी सत्ता हो भी तो वह पूर्णरूपेण अज्ञेय ही है।

१० अक्तूबर १९३२

संशय और भगवान्

क्या आध्यात्मिक मनीषी और क्या जड़वादी, सारा संसार ही यह जानता है कि प्रकृतिके अज्ञान और अचेतनतामें सृष्ट या स्वभावतः विकसित प्राणीके लिये यह संसार न तो फूलोंकी सेज है न आनंदमय ज्योतिका मार्ग ही। यह एक कठिन यात्रा है, संग्राम है, संघर्ष है, प्रायः कष्टप्रद और बहुरंगा विकास है, सत्य और दुःखदर्दसे आक्रांत जीवन है। इसके अपने मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सुखोपभोग हैं, परंतु ये एक क्षणिक रसास्वादन मात्र कराते हैं–जिसे फिर भी प्राण-पुरुष छोड़ना नहीं चाहता–और इनका अंत कुरुचि, क्लांति और मोहभंगमें ही होता है। तब फिर क्या? यह कहना सहज है कि भगवान् हैं ही नहीं, परंतु इससे कुछ लाभ नहीं होता–यह तुम्हें वहीं छोड़ देता है जहां तुम हो और यह भविष्यके लिये न तो कोई आशा ही देता है न कोई समाधान ही–न तो रसेल, न कोई जड़वादी ही तुम्हें यह बता सकता है कि तुम कहां जा रहे हो या यही कह सकता है कि तुम्हें कहां जाना चाहिये। भगवान् अपने-आपको इस प्रकार नहीं प्रकट करते कि कोई उन्हें बाह्य सांसारिक अवस्थाओंमें पहचान सके ?–हां, यह बात एकदम ठीक है। ये सब किसी एक स्थानमें बैठे हुए किसी दायित्वहीन स्वेच्छाचारी पुरुषके कार्य नहीं हैं–ये तो वे अवस्थाएं हैं जिनमें दैवी

शक्तियां सत्ताके एक विशिष्ट स्वभावके अनुसार कार्य करती हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि ये सत्ताकी एक मानी हुई विशेष अवस्था या उपपाद्य विषय हैं जिनमें प्रवेश करना और सहयोग देना हम सबने वास्तवमें स्वीकार किया है। यह कार्य क्या दुःख-दायी और अनिश्चित है? क्या इसके उतार-चढ़ावका पहलेसे अंदाजा लगाना असंभव है? तब इन दो बातोंमेंसे कोई एक बात की जा सकती है: चाहे बौद्धों या मायावादियोंके रास्ते इस-से बाहर निकलकर निर्वाणमें प्रवेश किया जा सकता है अथवा अपने भीतर प्रवेश करके वहां भगवान्का साक्षात्कार प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि बाहरमें उन्हें प्राप्त करना संभव नहीं। क्योंकि जिन लोगोंने प्रयास किया है, और ऐसे लोग थोड़े नहीं वरन् सैकड़ों और हजारों हो गये हैं, उन्होंने युग-युगमें यह साक्षी दी है कि भगवान् हैं और यही कारण है कि योग भी संसारमें विद्यमान है। पर क्या इसमें बड़ा समय लगता है? क्या भगवान् अपनी मायाके एक घने परदेके पीछे छिपे हुए हैं और हमारी पुकारका उत्तर तुरत या किसी आरंभिक अवस्थामें ही नहीं देते? अथवा क्या वह केवल एक अनिश्चित और क्षणिक झलक भर दिखा देते हैं और फिर पीछे हट जाते हैं और जब-तक हम तैयार नहीं हो जाते तबतक प्रतीक्षा करते हैं? पर भगवान्का यदि कुछ मूल्य हो तो क्या उन्हें खोजनेके लिये कुछ कष्ट उठाने और समय तथा शक्ति लगानेकी कोई सार्थकता नहीं है और क्या हमें बिना किसी साधना या त्याग या दुःख-कष्टके ही उन्हें पानेका आग्रह करना चाहिये? निश्चय ही इस प्रकारकी मांग करना युक्तिसंगत नहीं। यह निश्चित है कि हमें

अंदर घुसना होगा, परदेके अंदर पैठकर उन्हें पाना होगा; ऐसा करनेपर ही हम उन्हें बाहर भी देख सकेंगे और हमारी बुद्धि उतनी संतुष्ट न होनेपर भी अनुभवके द्वारा उनकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होगी, जैसे एक आदमी पहले तो एक वस्तुके अस्तित्वको अस्वीकार करता है, पर जब वह उसे देख लेता है तब फिर उसे अस्वीकार नहीं कर पाता। परंतु उसके लिये साधनको अवश्य स्वीकार करना होगा और अपने संकल्पमें अटल होकर धैर्यके साथ प्रयास करना होगा।

१० सितम्बर १९३३

झूठी चमककी तराई

तुम्हारे मित्रके पत्रमें सीधे सत्यके मूलस्रोतसे आयी हुई एक धारा दिखायी दे रही है जो साधारणतया चाहे जहां नहीं दिखायी पड़ती। यहां वह बुद्धि दिखायी दे रही है जो केवल सोच ही नहीं सकती, बल्कि देख भी सकती है—और केवल पदार्थोंके बाह्य रूपोंको ही नहीं, जिनके साथ अधिकांश बुद्धिप्रधान व्यक्ति बिना अंत पाये या निश्चित समाधानपर पहुंचे हुए युद्ध करते रहते हैं मानो वहां और कुछ भी न हो, बल्कि उनके अंत:स्वरूपको भी देख सकती है। 'वाक्-शक्ति' की एक अवस्था है जिसे तांत्रिक लोग 'पश्यन्ती वाक्' कहते हैं; परंतु यहां 'पश्यन्ती बुद्धि' है अर्थात् वह बुद्धि है जो देखती है। ऐसी बुद्धि उत्पन्न होनेका कारण यह हो सकता है कि अंत:स्थित द्रष्टा विचार-क्षेत्रको पार कर अनुभूतिके क्षेत्रमें पहुंच गया हो; पर ऐसे भी बहुतसे लोग होते हैं जिनके पास अनुभूतिका बहुत बड़ा खजाना तो होता है पर उससे इस हदतक उनकी विचार-दृष्टि परिष्कृत नहीं होती; उनका अंतरात्मा अनुभव तो करता है, पर उनका मन उस अनुभवको मिश्रित और अपूर्ण रूप दिया करता है, उनकी भावनाको अस्पष्ट और विकृत बनाता रहता है। परंतु तुम्हारे मित्रकी प्रकृतिमें यथार्थ दर्शनकी शक्ति पहलेसे ही अवश्य प्रस्तुत रही होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

वास्तवमें इतनी जल्दी और निश्चित रूपमें उस धूमिल कुहासे-से, जिसे आधुनिक बुद्धिवाद सत्यका प्रकाश मानता है, एकदम बाहर निकल आना बहुत बड़ी बात है। आधुनिक मन–और उसके साथ-साथ हम लोग भी–इतने लंबे समयतक झूठी चमक-की तराईमें लगातार भटकता रहा है कि किसीके भी लिये इतनी जल्द और इतने पूर्ण रूपमें, जैसा कि हम यहां देखते हैं, उसके कुहासेको विशुद्ध दर्शनके सूर्य-प्रकाशके द्वारा दूर कर देना आसान नहीं है। यहांपर आधुनिक मानववाद (Humanism) और मानवहितवाद (Humanitarianism) के विषयमें, भावुक आदर्शवादी (Sentimental Idealist) और असफल बुद्धि-वादी (Intellectual) के व्यर्थ प्रयासोंके विषयमें, समन्वयात्मक सर्वमतसारसंग्रहवाद (Synthetic eclecticism) तथा अन्य ऐसी ही बातोंके विषयमें जो कुछ कहा गया है वह लेखककी प्रशंसनीय स्वच्छ दृष्टिको सूचित करता है और ठीक अपने लक्ष्य-को वेधता है। इन सब साधनोंके द्वारा मनुष्य-जाति अपने जीवन-का वह आमूल परिवर्तन नहीं कर सकती जिसकी आवश्यकता फिर भी अपरिहार्य प्रतीत हो रही है। वह परिवर्तन तो तभी संभव है जब हम सब पदार्थोंके पीछे वर्तमान सद्वस्तुकी दृढ़ भित्ति-को प्राप्त करें–वह परिवर्तन केवल भावनाओं और मानसिक कल्पना-ओंके द्वारा नहीं, वरन् चेतनाके परिवर्तन, एक आंतरिक और आध्यात्मिक रूपांतरके द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। परंतु यह एक ऐसा सत्य है जो आज-कलके बहुमुखी कोलाहल, अस्तव्यस्तता, और उथल-पुथलके अनेक प्रकारके शब्दोंके बीच नक्कारखानेमें तूतीकी आवाजकी तरह किसीके भी कानोंतक नहीं पहुंच सकता।

यहांपर बाह्य प्रकृतिके, उसकी दृश्यमान क्रिया-प्रणालीके स्तर और दिव्य सद्वस्तुके स्तरके बीच जो विभेद किया गया है और बड़ी बारीकीके साथ किया गया है, वह आंतर ज्ञानके आदि-वचनोंकी कोटिमें गिना जाने योग्य है। यहांपर जिस भांति उसका निरूपण किया गया है वह केवल विद्वत्तापूर्ण वर्णन नहीं है; वह तो उन स्पष्ट निश्चित सत्योंमेंसे एक सत्यका बड़ी गहराईके साथ किया हुआ वर्णन है जिन्हें तुम उस पार जाने और आंतरिक आध्यात्मिक अनुभूतिकी भूमिकापर खड़े होकर बाह्य जगत्की ओर देखनेपर प्राप्त करते हो। तुम जैसे-जैसे भीतर या ऊपर जाते हो वैसे-वैसे पदार्थोंके विषयमें तुम्हारी दृष्टि ही बदलती जाती है और जिस बाह्य ज्ञानको सायंस संगठित करता है वह अपने सच्चे और अत्यंत सीमित स्वरूपमें तुम्हारे सामने प्रतिभात होने लगता है। सायंस, अन्य अधिकांश मानसिक और बाह्य ज्ञानोंकी तरह ही, केवल प्रक्रियाका सत्य बतलाता है। और मैं यहां यह भी जोड़ देना चाहता हूं कि वह प्रक्रियाका भी समस्त सत्य नहीं बतला सकता; क्योंकि सायंसकी सहायतासे तुम केवल कुछ स्थूल प्रमेय वस्तुओंको ही पकड़ पाते हो, परंतु सर्व-प्रधान सूक्ष्म अप्रमेय वस्तुओंतक तुम नहीं पहुंच पाते। तुम यह भी नहीं जान पाते कि प्रकृतिमें जो बातें घटती हैं वे कैसे घटती हैं, केवल इतना ही जान पाते हो कि किन-किन अवस्था-ओंमें वे घटती हैं। सायंसकी सभी विजयों और उसके सभी चमत्कारोंके होते हुए भी इन सबका रहस्योद्घाटन करनेवाला मूलतत्त्व, इन सबका मूल कारण, इन सबका तात्पर्य पूर्ववत् अंध-कारमें ही रह गया है, रहस्यमय ही बना रह गया है, यहांतक

कि पहलेसे भी कहीं अधिक रहस्यमय बना रह गया है। सायंस-ने न केवल इस समृद्ध, विशाल और वैचित्र्यमय भौतिक जगत्के ही, बल्कि प्राण और चेतना और मन तथा उनकी क्रियाओंके भी क्रमविकासके विषयमें जो यह सिद्धांत निश्चित किया है कि ये सब जड़ परमाणु-पुंजसे ही उद्‌भूत हुए हैं और ये परमाणु एक जैसे ही हैं, केवल उनकी सजावट और संख्यामें ही भेद है, यह एक युक्तिविरुद्ध इंद्रजाल-जैसा ही सिद्धांत है और अत्यंत गुह्य आध्यात्मिक कल्पनामें भी आनेवाली किसी बातसे कहीं अधिक चक्करमें डालनेवाला है। सायंसने अंतमें हम लोगोंको एक सु-संपन्न सत्याभासमें, एक संगठित और कठोरतापूर्वक निर्धारित आकस्मिक घटनामें, एक अनहोनीसी बातमें जो किसी प्रकार हो गयी है, ला पटका है—इसने हमें एक नयी, एक भौतिक माया-को, अघटनघटनपटीयसीको दिखाया है जो असंभवको संभव बनानेमें, एक ऐसा चमत्कार दिखानेमें अत्यंत पटु है जो न्यायतः हो ही नहीं सकता और फिर भी जो वास्तव है, अनिवार्य रूपसे व्यवस्थित है, यद्यपि है अयुक्तिसंगत और दुर्बोध ही! और इस-का स्पष्ट कारण यही है कि सायंस किसी मुख्य वस्तुको ही पकड़-नेमें असमर्थ रहा है; उसने जो कुछ हुआ है उसे तो देखा और जांचा है और एक तरहसे यह भी देखा और जांचा है कि किस तरहसे हुआ है; परंतु उसने उस वस्तुकी ओरसे एकदम आंख बंद कर ली है जिसने इस असंभवको संभव बनाया है, जो वहां अपने-आपको प्रकट करनेके लिये विद्यमान है। मूलतः इन बाह्य पदार्थोंका कोई अर्थ नहीं रह जाता अगर तुम दिव्य सद्वस्तुको ही छोड़ दो; क्योंकि तब तुम सीधे-सादे और उपयोगमें आने-

योग्य बाह्य स्वरूपके विशाल ऊपरी तहमें ही अटके रह जाते हो। यह उस परम जादूगरका जादू है जिसका विश्लेषण करनेकी तुम चेष्टा कर रहे हो; पर जब तुम स्वयं उस जादूगरकी चेतनामें प्रवेश करोगे तभी तुम इस लीलाके वास्तविक मूल, तात्पर्य और चक्रवत् गतिका रहस्य समझना आरंभ करोगे। 'आरंभ' मैं इसलिये कहता हूं कि दिव्य सद्वस्तु इतनी सीधी-सादी नहीं है कि तुम पहले स्पर्शमें ही वह जो कुछ है वह सब जान लो और उसे एक ही सूत्रके अंदर बांध लो; वह तो स्वयं अनंत है और तुम्हारे सामने एक अनंत ज्ञानको प्रकट कर देती है जिसके सामने तुम्हारे सभी सायंस एक साथ मिलकर भी बहुत तुच्छ प्रतीत होते हैं। परंतु आरंभमें भी तुम उस मूलतत्त्वको, सभी पदार्थोंके पीछे वर्तमान सनातन तत्त्वको स्पर्श करते ही हो और फिर उसके प्रकाशमें सब वस्तुएं अपने तहतक प्रकाशित होना, निबिड़ रूपमें बुद्धिगम्य होना आरंभ कर देती हैं।

मैं पहले एक बार तुम्हें बतला चुका हूं कि सदिच्छासे सत्यकी खोज करनेवाले कुछ वैज्ञानिक सब पदार्थोंके पीछे वर्तमान आध्यात्मिक सद्वस्तुके बाहरी या अत्यंत बाहरमें दिखायी देनेवाले रूपपर अपनी अन्वेषण-बुद्धिका जो बेकार चंचुप्रहार किया करते हैं, उसके विषयमें मेरा क्या मत है और इस कारण यहांपर उसे विस्तारपूर्वक कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। पर इससे भी अधिक विचारणीय विषय तो उस महत्तर संकटका है जो आध्यात्मिक और अतिभौतिक अनुभूतिकी सत्यताके विरुद्ध किये गये आध्यात्मिकताके शत्रु संशयवादियोंके नवीन आक्रमणके रूपमें आता हुआ दिखायी दे रहा है। इनका नाशकारी नया रण-

कौशल यह है कि ये आध्यात्मिक और अतिभौतिक अनुभूतिको स्वयं अपनी बुद्धिके अनुसार ही ग्रहण करते हैं और उनकी व्याख्या कर डालते हैं। यहांपर अवश्य ही भयके लिये प्रबल कारण हो सकता है; पर एक बार भी यदि इन बातोंकी अच्छी तरह जांच की गयी तो फिर मनुष्य-जातिका मन इन मूर्खतापूर्ण ऊपरी और बाहरी व्याख्याओंसे, उन व्याख्याओंसे जो वास्तवमें किसी बातकी व्याख्या नहीं करतीं, बहुत दिनोंतक संतुष्ट रह सकेगा, इसमें मुझे संदेह है। एक ओर यदि धर्मके रक्षक आध्यात्मिक अनुभूतिकी केवल आंतरिक सत्यताको ही प्रस्थापित करके एक ऐसे स्थानपर आकर खड़े होते हैं जो सहज ही जीता जा सकता है तो दूसरी ओर, मुझे ऐसा मालूम होता है कि, उनके प्रतिपक्षी भी आध्यात्मिक और अतिभौतिक अनुभूतिको स्वीकार करने और जांच करनेके लिये राजी होकर, अनजानमें ही, जड़वादके अपने किलेका फाटक ही छोड़ते नजर आ रहे हैं। भौतिक क्षेत्रमें ही खाई खोदकर जो वे बैठ गये थे, अतिभौतिक वस्तुओंको स्वीकार करने या उनकी जांचतक करनेसे जो वे इनकार किया करते थे, यही उनकी रक्षाका एक सुदृढ़ गढ़ था; पर जहां एक बार उन्होंने उसको छोड़ दिया कि फिर तो मानव-मन उनके सिद्धांतोंकी लाशोंको रौंदता हुआ और उनकी खंडनात्मक व्याख्याओं तथा दक्षतापूर्ण मनोवैज्ञानिक सूत्रवचनोंके खंडहरको लांघता हुआ उस चीजकी ओर तेजीके साथ बढ़ जायगा जो कम अभावात्मक है, अधिक सहायक रूपमें भावात्मक है। उसके बाद संभवतः एक दूसरा ही खतरा सामने आ सकता है—सत्यको अंतमें अस्वीकार कर देनेका नहीं, प्रत्युत पुरानी भूलको पुराने या नये रूपमें दुह-

रानेका, एक ओर तो अंध कट्टर अज्ञानपूर्ण सांप्रदायिक धर्माभिमानका फिरसे जग उठनेका और दूसरी ओर प्राणमय लोकोंसे संबंधित गुह्य विद्या और झूठी आध्यात्मिकताके गर्तों और दलदलोंमें जा फंसनेका–उन भूलोंके फिरसे दुहराये जानेका खतरा जिनको आधार बनाकर ही जड़वादने भूतकाल और उसके सारे मतवादोंपर आक्रमण किया था। परंतु ये सब तो वे मायिक रूप हैं जो हमें बराबर ही सरहदके ऊपर या भौतिक जगत्‌के अंधकार और पूर्ण ज्योतिके मध्यवर्त्ती प्रदेशमें मिला करते हैं। इन सब बातोंके होते हुए भी परम ज्योतिकी विजय, इस अंधकारपूर्ण पार्थिव चेतनाके अंदर भी, होकर ही रहेगी, यह बात सुनिश्चित है।

कला, काव्य और संगीत योग नहीं हैं; ये स्वयं अपने-आपमें आध्यात्मिक चीजें नहीं हैं, जैसे कि दर्शन या सायंस आध्यात्मिक वस्तु नहीं हैं। यहांपर फिर हमें आधुनिक बुद्धिकी एक दूसरी ही विलक्षण असमर्थता–मन और आत्मामें विभेद करनेकी अक्षमता, मानसिक, नैतिक और सौंदर्यविषयक आदर्शोंको आध्यात्मिकता समझने तथा उनकी निम्न कोटिकी बातोंको भी आध्यात्मिक मूल्य देनेकी भूल करनेकी तत्परता–दिखायी दे रही है। यह सत्य प्रायः सभी जानते हैं कि दार्शनिक और कविकी मानसिक अंतःस्फूर्तियां अधिकांशमें एक सच्ची आध्यात्मिक अनुभूतिसे कहीं निम्न कोटिकी होती हैं; वे बहुत दूर दिखायी देनेवाली चमक मात्र हैं, धीमे प्रतिबिंब मात्र हैं; परम ज्योतिके केंद्रसे आनेवाली किरणें नहीं हैं। फिर यह बात भी किसी कदर कम सत्य नहीं है कि यदि ऊंचे शिखरोंपर खड़े होकर देखा जाय तो मनकी

ऊंची चोटियों और इस बाह्य जीवनकी नीची चढ़ाइयोंमें कोई विशेष अंतर नहीं दिखायी देता। भगवत्-लीलाकी सभी शक्तियां ऊपरसे देखनेपर समान दिखायी देती हैं, वे सभी भगवान्के ही छद्मवेश हैं। पर साथ ही यह भी कहना होगा कि उन सबको भगवत्प्राप्तिका आरंभिक साधन बनाया जा सकता है: आत्मा-संबंधी एक दार्शनिक वर्णन एक मानसिक रचनामात्र है, वह ज्ञान भी नहीं, अनुभूति भी नहीं; फिर भी कभी-कभी भगवान् अपना स्पर्श देनेके लिये उसे एक साधन बना लेते हैं; और आश्चर्य-की बात है कि उस स्पर्शसे मनकी एक बाधा दूर हो जाती है, कुछ दर्शन होता है, अंतरके किसी भागमें एक गभीर परिवर्तन हो जाता है, प्रकृतिके क्षेत्रमें एक ऐसी वस्तु प्रवेश करती है जो शांत, सम और अनिर्वचनीय होती है। कोई आदमी एक पर्वत-शिखरपर खड़ा होता है और वहांसे प्रकृतिमें एक विशालता, व्यापकता और अनिर्वचनीय बृहत्की झांकी पाता है अथवा मनके द्वारा उसे अनुभव करता है, तब सहसा उसे एक स्पर्श प्राप्त होता है, एक प्रत्यक्ष दर्शन होता है, एक प्रकारकी बाढ़ उमड़ आती है और मन अध्यात्मके अंदर विलीन हो जाता है, वह अनंतके प्रथम आक्रमणका अनुभव प्राप्त करता है। अथवा तुम एक पवित्र नदीके किनारे एक काली-मंदिरके सामने खड़े होते हो और फिर वहां क्या देखते हो?—एक मूर्त्ति, स्थापत्य कलाका एक भव्य नमूना; पर फिर क्षणमात्रमें ही एक रहस्यमय ढंगसे, अन-पेक्षित भावसे वहां कोई दैवी सत्ता, कोई शक्ति, कोई मुखाकृति दिखायी देती है जो तुम्हारे मुंहकी ओर मानो आंख गड़ाकर देखती है; और यह क्या?—तुम्हारी अंतर्दृष्टि जगदंबाको देख

लेती है ! इसी प्रकारके स्पर्श कला, संगीत और काव्यके द्वारा भी उस कलाकार, संगीतज्ञ या कविको अथवा उसको प्राप्त हो सकते हैं जो शब्दके संघातको अनुभव करता है, मूर्त्तिके गूढ़ आशयको समझ लेता है, ध्वनिके अंदर वर्तमान संदेशको ग्रहण कर लेता है जिसमें इतना अधिक अर्थ भरा रहता है जितना कदाचित् ही उसके रचयिताने उसमें जानबूझकर रखा हो। इस दिव्य लीलाके अंदर जितनी चीजें हैं वे सभी ऐसे झरोखे बन सकती हैं जिनसे हम गुप्त सद्वस्तुकी झांकी पा सकें। फिर भी, जबतक मनुष्य झरोखोंके द्वारा झांकी पाकर ही संतुष्ट रहता है तबतक उसे जो कुछ मिलता है वह केवल आरंभकी चीज है; एक दिन आता है जब मनुष्यको परिव्राजकका दंड धारण कर उस स्थानकी यात्राके लिये प्रस्थान करना ही पड़ता है जहां सद्वस्तु सदा व्यक्त और विद्यमान रहती है। फिर धूमिल प्रतिबिंबोंमें अटके रहनेसे बहुत ही कम आध्यात्मिक तृप्ति होती है और जिस ज्योतिको ये प्रतिबिंब व्यक्त करनेका प्रयास करते हैं उसकी खोजकी भावना अपरिहार्य हो जाती है। परंतु जब यह सद्वस्तु और यह ज्योति हमारे अंदर भी उतनी ही हैं जितनी मृत्युलोकसे ऊपर किसी उच्चतर लोकमें हैं, तब हम उसे खोजनेके लिये जीवनके अनेक रूपों और क्रियाओंका उपयोग भी कर सकते हैं, जैसे कोई व्यक्ति एक फूल, एक प्रार्थना, एक कर्म भगवान्‌को अर्पित करता है वैसे ही कोई व्यक्ति सौंदर्यका एक सृष्ट रूप, एक गीत, एक कविता, एक प्रतिमा, संगीतकी एक लहर भी अर्पित कर सकता है और उसके द्वारा एक स्पर्श, एक प्रत्युत्तर या एक अनुभूति पा सकता है। और जब उस दिव्य

चेतनामें हमारा प्रवेश हो जाता है, या वह चेतना हमारे अंदर विकसित होती है तब भी जीवनमें उसे इन चीजोंके द्वारा अभिव्यक्त करनेका कार्य योगसे बाहर नहीं माना जाता, इन सब सर्जनात्मक कार्योंका फिर भी अपना स्थान रहता है, यद्यपि इनका वास्तविक महत्त्व भगवान्‌के कार्य और सेवामें व्यवहृत अन्य किसी कार्यसे अधिक नहीं होता। साधारणतया कला, साहित्य, संगीत आदिसे संबंधित रचनाएं मानसिक और प्राणिक ही होती हैं, आध्यात्मिक नहीं, फिर भी इनको एक उच्चतर उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रयुक्त किया जा सकता है और तब अन्य सभी चीजोंकी तरह, जो भगवान्‌के साथ हमारी चेतनाको युक्त करनेमें समर्थ हैं, ये भी रूपांतरित हो सकते हैं और आध्यात्मिक रूप ग्रहण कर सकते हैं तथा योगजीवनके एक अंगके रूपमें स्वीकृत हो सकते हैं। किसी चीजका अपने-आपमें कोई नया मूल्य नहीं होता, नया मूल्य तो उसे उस चेतनाके कारण प्राप्त होता है जो उसका व्यवहार करती है; केवल एक ही वस्तु प्रधान, आवश्यक और अनिवार्य है और वह है भागवत सद्वस्तुके विषयमें सचेतन होना, उसमें निवास करना और सदा उसे जीवनमें अभिव्यक्त करना।

२३ मार्च १९३२

मध्यवर्ती क्षेत्र

ये सब अनुभव एक ही प्रकारके हैं और इनमेंसे प्रत्येकके संबंधमें एक ही बात कही जा सकती है। इनमें जो अनुभूतियां वैयक्तिक हैं उनके अतिरिक्त बाकी या तो भावना-सत्य (Idea-truths) हैं जो सत्ताके कुछ स्तरोंके साथ संस्पर्श होनेपर ऊपरसे हमारी चेतनाके अंदर उतर आते हैं, या विराट् मनोमय और प्राणमय लोकोंकी शक्तिशाली रचनाएं हैं जो सीधे इन लोकोंकी ओर उद्घाटित होते ही साधकके अंदर घुस आती हैं और अपने-आपको चरितार्थ करनेके लिये साधकका उपयोग करना चाहती हैं; ये चीजें जब ऊपरसे आती या अंदर प्रवेश करती हैं तब एक बहुत बड़ी शक्तिका अनुभव होता है, अंतःस्फुरणा या ज्ञानदीप्तिका स्पष्ट बोध होता है, प्रकाश और हर्षातिरेकसे रोमांच हो आता है, विशालता और शक्तिमत्ताकी एक छापसी पड़ जाती है। उस समय साधकको ऐसा मालूम होता है कि वह साधारण सीमाओंसे मुक्त हो गया है, अनुभूतिके एक विलक्षण नये जगत्में आ पहुंचा है, भरपूर, बृहत् और उन्नत हो गया है; इसके अतिरिक्त, जो कुछ इस तरह आता है वह साधककी अभीप्साओं, महदाकांक्षाओं, आध्यात्मिक पूर्णता और यौगिक सिद्धिसंबंधी उसकी धारणाओंके साथ घुल-मिल जाता है; यहांतक कि वह स्वयं उस सिद्धि और परिपूर्णताके रूपमें प्रतिभात

होने लगता है। फिर बड़ी आसानीसे साधक उसकी चमक-दमक और वेगके द्वारा अभिभूत हो जाता है, उसे इस तरह जो कुछ मिला होता है उसे कहीं बढ़े-चढ़े रूपमें देखने लगता है और ऐसा समझने लगता है कि उसे कोई परम वस्तु या कम-से-कम निस्संदिग्ध रूपमें कोई सत्य-वस्तु मिल गयी है। इस अवस्थामें प्रायः साधकको वह आवश्यक ज्ञान और अनुभव नहीं होता जिससे उसे यह पता चल जाय कि यह जो कुछ अनुभव उसे हुआ है वह बहुत ही अनिश्चित और सदोष आरंभ-मात्र है; वह संभवतः तुरत यह बात नहीं समझ सकता कि वह अभी विश्वव्यापी अज्ञानके ही अंदर है, विश्वव्यापी सत्यके अंदर नहीं पहुंच सका है, परात्पर सत्यकी तो बात ही क्या; और यह भी नहीं समझ सकता कि उसके अंदर रचनात्मक या क्रियात्मक चाहे जो भावना-सत्य अवतरित हुए हों, वे सब हैं केवल आंशिक ही और सो भी उसकी मिश्रित चेतनाके द्वारा उसके सामने उपस्थापित होनेके कारण और भी क्षीण हो गये हैं। वह संभवतः यह भी समझनेमें असमर्थ हो सकता है कि यह जो कुछ उसे अनुभूत या उपलब्ध हो रहा है इसे एक पक्की बात मानकर यदि वह इसका प्रयोग करनेके लिये दौड़ पड़ेगा तो वह या तो किसी गड़बड़ी या भूल-भ्रांतिमें जा गिरेगा या किसी ऐसे आंशिक रूपके अंदर आबद्ध हो जायगा जिसमें आध्यात्मिक सत्यका कुछ अंश तो हो सकता है पर वह अंश मन और प्राणके अंदर उपजनेवाली बेकार बातोंके भारसे दबकर एकदम विकृत हो गया होता है। इस अवस्थामें पड़ा हुआ साधक तभी सच्ची स्वतंत्रता और एक उच्चतर, बृहत्तर तथा सत्यतर सिद्धिकी ओर ले जानेवाले मार्गपर आगे बढ़

सकता है जब वह (चाहे तुरत या कुछ समय बाद) अपनी अनुभूतियोंसे अपने-आपको अलग कर लेनेमें, निर्विकार साक्षी चेतनामें उनसे ऊपर खड़ा होकर उनके सच्चे स्वरूप, उनकी सीमाओं, उनकी बनावट और उनके अंदर मिली हुई चीजोंको देखनेमें समर्थ हो। साधनाके प्रत्येक स्तरमें साधकको ऐसा करना होगा। कारण जो कुछ इस प्रकार इस योगके साधकके पास आता है, चाहे वह अधिमानस या संबोधिमय मानस या प्रबुद्ध मानस या किसी उच्चतर प्राणलोकसे आया हो या एक साथ ही इन सब लोकोंसे ही क्यों न आया हो, वह कभी अंतिम नहीं होता; वह कभी परम सत्य नहीं होता जहां आकर साधक निश्चित बैठ जाय; बल्कि वह तो एक अवस्था मात्र होता है। और फिर इन अवस्थाओंमेंसे होकर गुजरना ही पड़ता है, क्योंकि विज्ञानमय सत्य या परम सत्यतक कोई एक ही छलांगमें या कई छलांगोंमें भी नहीं पहुंच सकता; साधकको, ऐसी बहुतसी मध्यवर्ती अवस्थाओंको, उनके निम्न कोटिके सत्य या ज्योति या शक्ति या आनंदसे आबद्ध या आसक्त हुए बिना, पार करते हुए स्थिरता, धीरता और दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ना होता है।

यह वास्तवमें एक मध्यवर्ती अवस्था है, मनकी साधारण चेतना और सच्चे यौगिक ज्ञानके बीचमें आनेवाला एक कटिबंध है। कोई तो इस क्षेत्रको तुरत ही अथवा साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें ही इसके सच्चे स्वरूपको देखकर तथा इसके अर्द्धप्रकाश और प्रलोभक पर अपूर्ण और बहुधा मिश्रित तथा पथभ्रष्टकारी अनुभवोंमें अटकनेसे इनकार करके बेलाग पार कर सकता है; कोई इसमें आकर विपथगामी हो सकता है, झूठी

वाणियों और मिथ्या निर्देशोंका अनुगमन कर सकता है और तब इसका फल होता है आध्यात्मिक सर्वनाश; अथवा कोई इस मध्य-वर्त्ती क्षेत्रमें ही आकर निवास कर सकता है, और आगे जानेकी कोई परवा न कर कोई खंड सत्य निर्माण कर सकता है और उसे ही पूर्ण सत्य समझ सकता है या इन संक्रमण-क्षेत्रोंकी शक्ति-योंका यंत्र बन सकता है—और यही दशा बहुतसे साधकों और योगियोंकी हुआ करती है। इस क्षेत्रके संस्पर्शमें आनेपर ये लोग एक असाधारण अवस्थाकी शक्तिकी अनुभूति और उसके प्रथम वेगसे अभिभूत हो जाते और थोड़ीसी रोशनीसे ही चौंधिया जाते हैं; यह थोड़ीसी रोशनी उन्हें एक प्रखर ज्योतिसी दिखायी देती है; अथवा वे किसी शक्तिका स्पर्श अनुभव करते हैं और उसे ही पूर्ण भागवत शक्ति या कम-से-कम कोई बड़ी महान् योग-शक्ति मान बैठते हैं; अथवा ये किसी मध्यवर्त्ती शक्ति (जो सदा भग-वान्की ही शक्ति नहीं होती) को ही परम भागवत शक्ति और किसी मध्यवर्त्ती चेतनाको ही परम उपलब्धि मान लेते हैं। बड़ी आसानीसे ये लोग यह समझने लगते हैं कि अब तो हम पूर्ण विश्वमयी चेतनामें आ गये हैं जब कि ये उसके केवल सामने-के या छोटेसे भागमें ही होते हैं या ऐसे बृहत्तर मन, प्राण या सूक्ष्म भौतिक क्षेत्रोंमें ही होते हैं जिनके साथ इनका क्रियात्मक संबंध हो जाता है। अथवा इन लोगोंको ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब हम किसी पूर्णतया प्रबुद्ध चेतनाके अंदर आ गये हैं जब कि वास्तवमें ये ऊपरसे आनेवाली चीजोंको किसी मनोमय या प्राणमय लोककी आंशिक ज्योतिमें अधूरे तौरपर ग्रहण करते होते हैं; क्योंकि जो कुछ आता है वह इन लोकोंसे होकर आने-

के समय बहुधा क्षीण और विकृत हो जाता है; उसे ग्रहण करनेवाला साधकका मन और प्राण भी जो कुछ ग्रहण किया गया है उसे कुछ-का-कुछ समझता और प्रकट करता है अथवा उसके साथ अपनी ही धारणाओं, भावनाओं और कामनाओंको इस तरह मिला देता है कि इन्हें वह फिर अपना समझ ही नहीं पाता और ऊपरसे प्राप्त होनेवाले सत्यका ही अंश मानने लगता है, क्योंकि ये उसके साथ मिल जाती हैं, उसके आकारका अनुकरण करती हैं, उसके प्रकाशसे चमकने लगती हैं और इस साहचर्य और पराये प्रकाशके कारण अतिरंजित मूल्य प्राप्त करती हैं।

इससे भी कहीं बड़े संकट अनुभवके इस मध्यवर्ती क्षेत्रमें उपस्थित होते हैं। कारण, इस अवस्थामें जिन लोकोंकी ओर साधक अपनी चेतनाको खोले रखता है, उन लोकोंसे—पहलेकी तरह केवल किसी झलक और प्रभावके रूपमें ही नहीं, बल्कि सीधे, अपने पूर्ण वेगके साथ—अनगिनत भावनाएं, प्रेरणाएं, सूचनाएं और सभी प्रकारकी रचनाएं आया करती हैं जो बहुधा परस्पर विरोधी, विसंगत या विपरीत हुआ करती हैं, पर इस ढंगसे वे आ उपस्थित होती हैं कि उनकी न्यूनताएं और उनके पारस्परिक भेद, उनके प्रबल वेग, उनकी आपात सत्यता और उनकी युक्तिके प्राचुर्य या निश्चयके तीव्र बोधसे एकदम ढक जाते हैं। निश्चयकी इस प्रतीति, इस स्पष्टता, प्राचुर्य और समृद्धिके इस दिखावेसे पराभूत होकर साधकका मन एक बहुत बड़ी विश्रृंखलताको प्राप्त होता है और उसे ही कोई बृहत्तर संगठन और सुश्रृंखला मान बैठता है; अथवा उसके मनमें लगातार नाना प्रकारके हेर-फेर और परिवर्तन होते रहते हैं और उन्हें उसका मन तीव्र प्रगति मान

लेता है यद्यपि वे उसे किसी ओर भी नहीं ले जाते। अथवा, इसके विपरीत, वहां यह भी आशंका है कि साधक ऊपरसे देदीप्यमान दिखायी देनेवाली पर अज्ञानजनिक किसी सत्ताका यंत्र बन जाय; क्योंकि ये मध्यवर्त्ती क्षेत्र छोटे-छोटे देवों या प्रबल दैत्यों या नन्हीं-नन्हीं सत्ताओंसे भरे हुए हैं जो इस पृथ्वीपर अपनी सृष्टि करना चाहती हैं, अपने किसी भावको पार्थिव रूपमें व्यक्त करना चाहती हैं अथवा पार्थिव जीवनमें किसी मनोमय और प्राणमय रूपको प्रस्थापित करना चाहती हैं और जो साधकके विचार और संकल्पको अपने काममें लगाने, अपने प्रभावमें ले आने या अपने अधिकारतकमें कर लेने तथा इस उद्देश्यकी पूर्त्तिके लिये साधकको अपना यंत्र बनानेके लिये उत्सुक रहती हैं। परंतु यह खतरा भी उस प्रसिद्ध खतरेसे भिन्न है जो वास्तविक विरोधी शक्तियोंकी ओरसे आता है; उन शक्तियोंका एकमात्र उद्देश्य होता है विश्रृंखला और असत्यकी सृष्टि करना, साधनाको तहस-नहस कर डालना तथा सर्वनाशकारी अनाध्यात्मिक प्रमाद उत्पन्न करना। ये शक्तियां बहुधा किसी दिव्य शक्तिका नाम धारण कर साधकके सामने आती हैं और जो साधक इनमेंसे किसी एकके चंगुलमें फंस जाता है वह योगमार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। और इसके विपरीत यह भी सर्वथा संभव है कि इस क्षेत्रके अंदर प्रवेश करते ही साधकको भगवान्की कोई शक्ति मिल जाय जो उसकी सहायता करे और तबतक उसका पथप्रदर्शन करे जबतक वह महत्तर वस्तुओंके लिये प्रस्तुत न हो जाय; पर फिर भी इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि साधक इस क्षेत्रके प्रमादों और पदस्खलनोंसे एकदम बच ही जायगा; क्योंकि यहां

ऐसा होना अत्यंत स्वाभाविक है कि इन क्षेत्रोंकी शक्तियां या विरोधी शक्तियां मार्गप्रदर्शक दिव्य वाणी या मूर्त्तिका अनुकरण कर साधकको धोखा दें और पथभ्रष्ट करें या साधक स्वयं अपने ही मन, प्राण या अहंकारकी सृष्टियों और रचनाओंको भगवान्‌की ओरसे आयी हुई मान लें।

कारण, यह मध्यवर्त्ती क्षेत्र अर्ध-सत्योंका प्रदेश है–और केवल इतनेसे ही कोई हर्ज नहीं था; क्योंकि विज्ञानके नीचे कहीं भी पूर्ण सत्य नहीं है; पर यहांका अर्ध-सत्य प्रायः इतना आंशिक या कार्यतः इतना अस्पष्ट और संदिग्ध होता है कि अस्तव्यस्तता, भ्रान्ति या प्रमादके लिये एक चौड़ा मैदान खुला रहता है। यहांपर साधक यह समझने लगता है कि अब हम अपनी पुरानी छोटीसी चेतनामें ही नहीं हैं, क्योंकि अब वह अपने-आपको किसी बृहत्तर या अधिक शक्तिशाली वस्तुसे युक्त अनुभव करता है जब कि वह होता है अपनी पुरानी चेतनामें ही जो वास्तवमें अभी लुप्त नहीं हुई है। वह अपने ऊपर अपनेसे अधिक महान् किसी शक्ति, सत्ता या सामर्थ्यका अधिकार या प्रभाव अनुभव करता है, उसीका यंत्र बननेकी आकांक्षा करता है और समझता है कि वह अहंकारसे मुक्त हो गया है; पर इस अनहंकारिताकी भ्रांतिके अंदर प्रायः एक बढ़ा-चढ़ा अहंकार छिपा हुआ होता है। नाना प्रकारकी भावनाएं जो केवल अंशतः सत्य होती हैं, उसे आक्रांत कर लेती हैं और उसके मनको परिचालित करती हैं और अत्यधिक विश्वासके साथ उन भावनाओंका दुरुपयोग करनेपर वे असत्यमें परिणत हो जाती हैं, इसके कारण चेतनाकी गतियां दूषित हो जाती हैं और भ्रांतिके लिये दरवाजा

खुल जाता है। नाना प्रकारकी सूचनाएं आती हैं, कभी-कभी तो बड़ी ही अद्भुत और आकर्षक सूचनाएं आती हैं जो साधक-के महत्त्वको अतिरंजित करती हैं अथवा उसकी इच्छाओंके अनु-कूल होती हैं और वह कोई जांच-पड़ताल, या उचित-अनुचितका विवेक किये विना ही उन्हें ग्रहण कर लेता है। यहांतक कि उनमें जो कुछ सत्य होता है उसे भी उसके वास्तविक मूल्य, सीमा और मानसे परे इतना अधिक बढ़ा-चढ़ा और फैला दिया जाता है कि वह प्रमादको उत्पन्न करनेवाला बन जाता है। यह वह क्षेत्र है जिसे बहुतेरे साधकोंको पार करना पड़ता है, जिसमें बहुतेरे बहुत दिनोंतक भटकते रहते हैं और जिसमेंसे बहु-तेरे कभी बाहर निकल ही नहीं पाते। विशेषकर जिन साधकों-की साधना प्रधानतया मन और प्राणके क्षेत्रोंमें ही चलती है उन्हें यहां बहुतसी कठिनाइयों और अत्यधिक खतरेका सामना करना पड़ता है; केवल वे ही लोग, जो सच्चाईके साथ गुरु-प्रदर्शित मार्गका अनुगमन करते हैं या जिनकी प्रकृतिमें हृत्पुरुष-का प्राधान्य स्थापित हो चुका होता है, बड़ी आसानीसे, मानो निश्चित और स्पष्ट रूपमें चिह्नित किसी मार्गसे होकर इस मध्य-वर्त्ती प्रदेशको पार कर जाते हैं। अगर साधकमें केंद्रगत सच्चाई हो, मूलगत विनम्रता हो तो वह भी बहुतसे खतरों और कष्टों-से बच सकता है और फिर शीघ्रतासे इस क्षेत्रके परे उस विशुद्ध-तर ज्योतिमें पहुंच सकता है जहां बहुत-कुछ मिलावट, अनिश्चित-ता और संघर्षकी अवस्था रहनेपर भी माया और अज्ञानके अर्ध-प्रकाशमें बने रहनेके बदले विश्वगत सत्यकी ओर अपने-आप-को खोलनेकी ही प्रवृत्ति जगती है।

यहांपर मैंने साधारण चेतनाके ठीक उस पारवाली चेतनाकी अवस्थाका तथा उसके मुख्य-मुख्य अंगों और संभावनाओंका सामान्य रूपसे इसलिये वर्णन किया है कि यही वह स्थान है जहां इस प्रकारकी अनुभूतियां साधकको हुआ करती हैं। परंतु भिन्न-भिन्न साधक यहां भिन्न-भिन्न प्रकारसे बर्ताव किया करते हैं और कभी एक प्रकारकी संभावनाओंकी ओर झुकते हैं तो कभी दूसरे प्रकारकी संभावनाओंकी ओर। जिस प्रसंगमें यह चर्चा यहां की जा रही है उस प्रसंगमें ऐसा मालूम होता है कि साधकका इस क्षेत्रमें जो प्रवेश हुआ है वह विश्वचैतन्य-नीचे उतार लाने या उसमें बलात् प्रवेश करनेके प्रयत्नके कारण हुआ है–इस बातको चाहे जिस ढंगसे कहा जाय अथवा स्वयं प्रयत्न करनेवालेको अपने इस प्रयत्नका बोध हो या न हो, अथवा बोध हो भी तो चाहे इस रूपमें हो या न हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं, सार रूपमें बात जो कुछ है वह यही है। इस प्रसंगमें साधकका प्रवेश जिस क्षेत्रमें हुआ था वह अधिमानस नहीं था। क्योंकि सीधे अधिमानसमें पहुंचना असंभव है। निश्चय ही अधिमानस विश्व-चैतन्यके अखिल कर्मके ऊपर और पीछे विद्यमान है, पर आरंभमें उसके साथ अप्रत्यक्ष संबंध ही स्थापित किया जा सकता है; वहांसे जो चीजें आती हैं वे मध्यवर्ती क्षेत्रोंमें होती हुई बृहत्तर मानस-क्षेत्र, प्राण-क्षेत्र और सूक्ष्म भौतिक क्षेत्रमें आती हैं और रास्तेमें बहुत-कुछ परिवर्तित और क्षीण होती हुई आती हैं, यहांतक कि अधिमानसके अपने मूल क्षेत्रमें उनमें जो शक्ति या सत्य होता है वह अब पूरा-का-पूरा नहीं रह जाता। अधिकांश गतियां तो अधिमानससे नहीं

वरन् उससे नीचेके उच्चतर मानस-क्षेत्रोंसे ही आती हैं। अधिकांश भावनाएं, जो इन अनुभूतियोंमें भरी होती हैं और जिनके आधारपर ही ये अनुभूतियां सत्य होनेका दावा करती हुई प्रतीत होती हैं, अधिमानसकी नहीं होतीं, बल्कि उच्चतर मनकी या कभी-कभी प्रबुद्ध मनकी होती हैं; पर साथ ही उनमें निम्नतर मन और प्राणकी सूचनाएं भी मिली हुई होती हैं और वे अपने प्रयोगमें बुरी तरहसे क्षीण अथवा बहुतसे स्थानोंमें अनुचित रूपसे प्रयुक्त हुई होती हैं। पर इन सबसे कुछ नहीं बिगड़ता; ये सब यहांके लिये स्वाभाविक और सामान्य बातें हैं और इन सबसे होकर ही साधक एक ऐसे स्वच्छतर वातावरणमें पहुंच जाता है जहां सभी बातें अपेक्षाकृत अधिक सुसंगठित और अधिक सुदृढ़ आधारपर अवस्थित होती हैं। परंतु इस प्रसंगमें जिस भावसे कार्य किया गया था उसमें अत्यधिक शीघ्रता और उत्सुकता, अतिरंजित आत्माभिमान और आत्म-विश्वास, अधूरे ज्ञानपर आश्रित निश्चयता वर्तमान थी और भरोसा और किसीके भी पथप्रदर्शनपर नहीं, बल्कि अपने ही मनके अथवा ऐसे 'भगवान्'-के पथप्रदर्शनपर किया गया था जो अत्यंत सीमित ज्ञानकी अवस्थामें कल्पित या अनुभूत हुए थे। ऐसी अवस्थामें भगवान्-संबंधी साधककी धारणा और अनुभूति, यदि वे मूलतः वास्तविक भी हों तो भी पूर्ण और विशुद्ध कभी नहीं होतीं; उनमें सब प्रकारके मन और प्राणके अध्यारोप मिले हुए होते हैं और इस भागवत पथ-प्रदर्शनके साथ ऐसी सभी प्रकारकी बातें जड़ित होती हैं और उसका अंग मानी जाती हैं जो एकदम दूसरे ही स्थानोंसे आती हैं। अधिकतर ऐसी अवस्थाओंमें भगवान् अधिकांशमें पर्देके

पीछेसे ही क्रिया करते हैं, फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि वह सीधे ही मार्गप्रदर्शन करते हैं तो भी उनका पथप्रदर्शन कभी-कभी ही मिलता है और उसके अतिरिक्त अन्य सभी बातें विश्व-शक्तियोंके खेल ही होती हैं; उनमें प्रमाद, स्खलन और अज्ञानका संमिश्रण अबाध रूपसे होता रहता है और यह सब इस-लिये होने दिया जाता है कि विश्वशक्तियोंके द्वारा साधककी परीक्षा हो जाय, वह अनुभवके द्वारा शिक्षा प्राप्त करे, अपूर्ण-ताओंसे होकर पूर्णताकी ओर अग्रसर हो सके—अगर उसमें इसके लिये योग्यता हो, अगर वह सीखना चाहता हो तो अपनी भूलों और गलतियोंको आंख खोलकर देखे, उनसे शिक्षा ग्रहण करे और लाभ उठावे, जिसमें वह विशुद्धतर सत्य, ज्योति और ज्ञानकी ओर अग्रसर हो सके।

मनके इस अवस्थामें पहुंचनेका परिणाम यह होता है कि जो कुछ इस संमिश्र और संशयसंकुल क्षेत्रमें साधकके सामने आता है, उसका ही वह इस प्रकार समर्थन करने लगता है मानो वही परम सत्य और एकमात्र भागवत इच्छा हो; जो भावनाएं या सूचनाएं बार-बार आती रहती हैं उन्हें साधक इस प्रकार अपनी ही बातपर अड़े रहकर और पूरे निश्चयके साथ प्रकट करता है मानो वे ही संपूर्ण या निर्विवाद सत्य हों। इस अवस्था-में साधककी ऐसी धारणा बन जाती है कि हम नैर्व्यक्तिक और अहंकार-विमुक्त हो गये हैं, जब कि उसके मनका सारा रुख, उस-का कथन और भाव सब कुछ प्रचंड अहंमन्यतासे भरा होता है और उसकी यह अहंमन्यता इस कारण पुष्ट होती रहती है कि वह निश्चित रूपसे यह समझता है कि वह भगवान्के यंत्रके

रूपमें और भगवान्की प्रेरणाके अनुसार ही सोचता-विचारता और कार्य करता है। उस समय साधक ऐसी-ऐसी भावनाओंको बड़े जोरदार शब्दोंमें पेश करता है जो मनके लिये तो ठीक हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे ठीक नहीं होतीं; फिर भी वे ऐसे ढंगसे कही जाती हैं मानो वे अध्यात्मके ही ऐकांतिक सत्य हों। उदाहरणके तौरपर हम समताको ले सकते हैं जो उस दृष्टि-से एक मनोधर्ममात्र होता है—क्योंकि यौगिक समता बिलकुल दूसरी ही चीज है,—फिर अपने आत्माके लिये जो स्वतंत्रताका दावा किया जाता है, किसीको गुरु माननेसे जो इन्कार किया जाता है, या भगवान् तथा मनुष्यदेहधारी भगवान्के बीच जो भेद किया जाता है इन सब बातोंको ले सकते हैं। ये सब भावनाएं ऐसी स्थितियां हैं जिन्हें मन और प्राण ग्रहण कर सकते हैं और ऐसे सिद्धांतोंमें बदल सकते हैं जिन्हें वे धार्मिक या यहां-तक कि आध्यात्मिक जीवनपर भी लादनेकी चेष्टा कर सकते हैं, यद्यपि वे स्वरूपतः न तो आध्यात्मिक होते हैं और न हो ही सकते हैं। फिर प्राणमय लोकोंसे भी सूचनाएं आने लगती हैं, रोमांचकारी, मनगढंत या विलक्षण कल्पनाओंका तांता-सा लग जाता है, गूढ़ार्थव्यंजन, अंतर्ज्ञानाभास और आगे होनेवाली उपलब्धियोंका आश्वासन मिलने लगता है और इन बातोंसे साधक-का मन या तो उत्तेजित हो जाता है या विमूढ़ हो जाता है और प्रायः साधक इन बातोंको ऐसे रूप दे देता है जिनसे उसका अहं-कार और अहंमन्यता बेतरह बढ़ जाती है यद्यपि ये सब बातें सच्चे और सुनिश्चित आध्यात्मिक या गुह्य सत्योंके ऊपर अव-लंबित नहीं होतीं। इस प्रकारकी बातोंसे यह क्षेत्र भरा हुआ

है और अगर इन्हें मौका दिया जाय तो ये साधकके ऊपर आकर एकदम छा जाती हैं; परंतु साधक यदि वास्तवमें परम तत्त्वको ही प्राप्त करना चाहता हो तो उसे चाहिये कि वह इन्हें केवल देखे और आगे बढ़ता जाय। यह बात नहीं है कि ऐसी बातोंमें तनिक भी सत्य न हो, पर बात यह है कि एक सत्यके साथ-साथ नौ असत्य सत्यका रूप धारण कर सामने आते हैं और केवल वही मनुष्य बिना लुढ़के या यहांके गोरखधंधेमें बिना फंसे अपना रास्ता निकाल सकता है जो सूक्ष्म जगत्संबंधी गुह्यविद्याकी शिक्षा पा चुका हो और दीर्घकालीन अनुभवके द्वारा अचूक कौशल प्राप्त कर चुका हो। यहां यह संभव है कि साधकका सारा मनोभाव, उसका कर्म और उसकी बातचीत इस मध्यवर्ती क्षेत्रकी भूल-भ्रांतियोंसे इस तरह भर जाय कि फिर उसके लिये इस रास्तेपर आगे बढ़नेका अर्थ ही हो जाय भगवान् और योगसे बहुत दूर चला जाना।

फिर भी यहां साधकको यह स्वतंत्रता है कि वह चाहे तो इन अनुभवोंके अंदर मिलनेवाले इस मिश्रित पथप्रदर्शनका ही अनुसरण करे या सच्चे पथप्रदर्शनको स्वीकार करे। प्रत्येक मनुष्य, जो यौगिक अनुभूतिके क्षेत्रोंमें प्रवेश करता है, अपने ही मार्गका अनुसरण करनेके लिये स्वतंत्र है; परंतु यह योगमार्ग ऐसा नहीं है जिसका अनुसरण चाहे जो कर सके, बल्कि यह केवल उन्हीं लोगोंके लिये है जो इसके लक्ष्यको प्राप्त करना चाहते हैं, इसके निर्दिष्ट पथका अनुसरण करना चाहते हैं जिसके लिये सुनिश्चित पथप्रदर्शन अत्यंत आवश्यक है। किसीके भी लिये यह आशा करना व्यर्थ है कि वह इस मार्गपर किसी सच्ची सहा-

यता या प्रभावको प्राप्त किये बिना ही केवल अपने ही आंतरिक बल और ज्ञानके सहारे बहुत दूरतक--अंततक चले जानेकी तो बात ही क्या--अग्रसर हो सकता है। दीर्घकालसे जिन योगोंका अभ्यास लोग करते आ रहे हैं उन सामान्य योगमार्गोंका भी गुरुकी सहायताके बिना अनुसरण करना बहुत कठिन है; फिर इस योगमें तो ऐसा करना एकदम असंभव ही है, क्योंकि इस योगमें जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसे ऐसे देश मिलते हैं जिनमें अबतक किसीने पैर नहीं रखा था और ऐसे क्षेत्र मिलते हैं जिन्हें अबतक किसीने जाना नहीं था। और यहां जो कर्म करनेको कहा जाता है वह भी ऐसा कर्म नहीं है जिसे चाहे किसी मार्गका चाहे जो साधक कर सके; यह कार्य 'नैर्व्यक्तिक' ब्रह्मके लिये भी नहीं है जो नैर्व्यक्तिक होनेके कारण ही क्रियाशील शक्ति नहीं है, बल्कि जो इस विश्वकी सभी क्रियाओंका एकसा ही उदासीन आधार मात्र है। यह कर्म तो उन्हीं लोगोंके लिये साधनाका एक क्षेत्र है जिन्हें इस योगके कठिन और जटिल मार्गको तै करना है, दूसरे किसीके लिये नहीं है। यहां सभी कर्मोंको स्वीकृति, नियमानुवर्तन और समर्पणकी भावनाके साथ ही करना होता है, अपनी वैयक्तिक मांगों और शर्तोंको रखते हुए नहीं, प्रत्युत सजग और सचेत होकर निर्दिष्ट नियंत्रण और परिचालनकी अधीनता स्वीकार करते हुए करना होता है। अन्य किसी भावसे किया हुआ कर्म वातावरणमें अनाध्यात्मिक असामंजस्य, अस्तव्यस्तता और उथल-पुथल उत्पन्न करता है। समुचित भावके साथ कर्म करनेपर भी बहुत-सी कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, भूल-भ्रांतियां होती हैं, पद-

पदपर ठोकरें खानी पड़ती हैं, क्योंकि इस योगमें साधकोंको बड़े धैर्यके साथ और उनके अपने प्रयासके लिये भी कुछ क्षेत्र रखते हुए, अनुभवके सहारे, मन-प्राणके स्वाभाविक अज्ञानसे बाहर निकल-कर बृहत्तर आत्मा और ज्योतिर्मय ज्ञानमें ले जाना होता है। परंतु विना पथप्रदर्शनके यदि साधक साधारण मानसिक चेतना-के परेके इन क्षेत्रोंमें घूमने-भटकने लगे तो इसमें यह भय है कि योगकी भित्ति ही नष्ट हो जाय और केवल जिन अवस्थाओंमें ही कर्म किया जा सकता है उन अवस्थाओंको ही साधक खो बैठे। इस मध्यवर्त्ती क्षेत्रको पार करनेका रास्ता–जिससे होकर जानेके लिये सभी बाध्य नहीं हैं, क्योंकि बहुतसे लोग इससे अपेक्षा-कृत तंग पर अधिक निश्चित पथसे इसे पार कर जाते हैं–बहुत विकट है; पर इस मार्गपर चलनेसे जो फल प्राप्त होता है उस-से जीवनमें बहुत विशाल और समृद्ध सृष्टि की जा सकती है; परंतु जब कोई यहां आकर डूब जाता है तब बाहर निकलना बहुत कठिन और कष्टसाध्य हो जाता है और बहुत दिनोंतक संघर्ष और प्रयास करनेपर ही संभव होता है।

६ नवंबर १९३२

विश्वगत सत्य और विश्वगत अज्ञान

कोई ऐसा अज्ञान नहीं जो विश्वगत अज्ञानका अंश न हो, केवल व्यक्तिमें आकर ही उसकी गति और आकृति मर्यादित होती है; और विश्वगत अज्ञान उस विश्व-चैतन्यकी सामूहिक क्रिया है जो परम सत्यसे विच्छिन्न है और एक ऐसी निम्नतर प्रकृतिके अंदर क्रियाशील हो रहा है जिसमें सत्य विकृत, क्षीण, मिश्रित और असत्य तथा प्रमादसे आच्छादित रहता है। विश्वगत सत्य विश्व-चेतनाकी समस्त वस्तुओंको देखनेकी वह दृष्टि है जिसमें वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप, उनका भगवान्‌के साथ वास्तविक संबंध तथा उनका पारस्परिक सच्चा संबंध दिखायी देता है।

यौगिक समता और मानसिक समता

यौगिक समता अंतरात्माकी समता है, वह समवर्त्तिता है जो स्थापित होती है एक आत्माके, सर्वत्र विद्यमान एक भगवान्‌के बोधके ऊपर—नामरूपात्मक जगत्‌के समस्त भेदों, तारतम्यों और वैषम्योंके होते हुए भी उसी 'एक' को देखनेवाली दृष्टिके ऊपर। समताका जो मानसिक स्वरूप है वह इन भेदों, तारतम्यों और

असमानताओंको या तो देखना ही नहीं चाहता या उसे लोप ही कर देनेकी चेष्टा करता है और इस तरह कार्य करनेमें प्रवृत्त होता है मानो यहां सब कोई बराबर ही हों या सबको बराबर बनानेका प्रयत्न करता है। यह बात ठीक रामकृष्णके भानजे हृदय-कीसी है जो रामकृष्णका स्पर्श पाते ही चिल्लाकर कहने लगा, "रामकृष्ण, तुम ब्रह्म हो और मैं भी ब्रह्म हूं; हम दोनों-में कोई भेद नहीं"; और जिसके शांत न होनेपर रामकृष्णको अपनी शक्ति ही हटा लेनी पड़ी। अथवा यह बात उस शिष्यकी-सी है जो महावतका कहना न मानकर हाथीके सामने यह कहता हुआ खड़ा हो गया कि "मैं ब्रह्म हूं", और जिसे हाथीने अपनी सूंडसे पकड़कर उठा लिया और एक किनारे रख दिया। जब उसने अपने गुरुके पास जाकर इसकी शिकायत की तब गुरुने कहा, "हां, पर तुमने महावत ब्रह्मकी बात क्यों नहीं सुनी? यही कारण था कि हाथी ब्रह्मको तुम्हें उठाकर एक किनारे रख देना पड़ा जिसमें तुम्हें कोई हानि न उठानी पड़े।" इस व्यक्त जगत्में सत्यके दो पहलू हैं और तुम उन दोनोंमेंसे एकको भी अवहेलना नहीं कर सकते।

मौलिक भेद

इस शिक्षाका अन्य शिक्षाओंके साथ जो मौलिक भेद है वह यह है कि इस शिक्षाके अनुसार एक क्रियात्मक (Dynamic) भागवत सत्य (विज्ञान-तत्त्व) है और वह सत्य अज्ञानके इस जगत्-में अवतरित हो सकता है, एक नवीन सत्य-चेतनाकी सृष्टि कर सकता है और जीवनको दिव्य बना सकता है। पर प्राचीन सभी योग मनसे ऊपर उठकर सीधे निरपेक्ष परब्रह्मकी ओर चले जाते हैं और सारे जगत्को अविद्या, माया या लीला मानते हैं; उनका कहना है कि जब तुम निश्चल और निर्विकार भागवत सत्यमें प्रवेश करते हो तब तुम विश्व-जीवनके बाहर चले जाते हो।

उच्चतर सत्य और निम्नतर सत्य

"यदि विज्ञनमय सत्यके अतिरिक्त अन्य सब कुछ असत्य ही हो तो फिर विज्ञानके नीचे जो अधिमानस है वह विज्ञानके अंदर जानेका मार्ग कैसे हो सकता है?"

मैंने यह नहीं कहा है कि विज्ञानमय सत्यके अतिरिक्त अन्य सब कुछ असत्य है। मैंने यह कहा है कि विज्ञानके नीचे कहीं भी

पूर्ण सत्य नहीं है। विज्ञानमय सत्य, जो पूर्ण और सुसमन्वित है, अधिमानसमें आकर अनेक भागोंमें विभक्त हो जाता है, एक सत्यके कई सत्य हो जाते हैं जो एक-दूसरेके मुकाबले अपने-आपको चरितार्थ करनेमें प्रवृत्त होते हैं, अपना-अपना अलग जगत् ही सृष्ट करना चाहते हैं या विभिन्न पृथक्-पृथक् सत्यों और सत्य-शक्तियोंके संयोगसे बने हुए जगतोंमें अपना-अपना प्रभुत्व जमाना या अपना-अपना हिस्सा प्राप्त करना चाहते हैं। अधि-मानससे और नीचे उतरनेपर सत्यका यह विभाजन इस तरह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है जिससे वास्तविक भूल-भ्रांति, मिथ्यापन, अज्ञान और अंतमें जड़-तत्त्वकी जैसी अचेतनतातक-को उत्पन्न होनेका मौका मिल जाता है। यह जगत् अचेतनतासे ही निकला है और फिर इसने अपने अंदरसे मनको विकसित किया है जो अविद्याका एक यंत्र है और जो अनेक प्रकारके प्रतिबंधों, संघर्षों, जटिलताओं और प्रमादोंसे होता हुआ सत्यतक पहुंचनेकी चेष्टा करता है। अधिमानसतक फिरसे वापस जाना, अगर कोई इसे पूर्ण रूपसे कर सके (जो स्थूल-देहधारी मनुष्योंके लिये आसान नहीं है) तो यह विज्ञानमय सत्यके द्वारपर, उसमें प्रवेश करनेकी आशासे, खड़ा होना ही है।

७ नवम्बर १९३२

श्रद्धाका प्रश्न

इन दो धारणाओंमें मेल कैसे बैठाया जाय :–

(१) सब प्रकारकी क्रियाओं और घटनाओंके पीछे भगवान्‌का ही संकल्प रहता है।

(२) भगवान्‌का संकल्प व्यक्त जगत्‌के अंदर विकृत हो जाता है।

श्रद्धा दो प्रकारकी होती है।

एक वह श्रद्धा है जो हमारे अंदर समत्व ले आती है और दूसरी वह है जो सिद्धि ले आती है।

ये दो श्रद्धाएं भगवान्‌के दो विभिन्न स्वरूपोंकी अनुवर्तिनी हैं।

एक तो परात्पर भगवान् हैं और दूसरे विश्वगत भगवान् हैं।

सिद्धिका जो संकल्प होता है वह परात्पर भगवान्‌का होता है।

विश्वात्मा भगवान्‌का कार्य है वर्तमान परिस्थितियोंके अनुसार सृष्टि-चक्रको चलाना। इस विश्वात्माकी ही इच्छाशक्ति इस जगत्‌की प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक क्रियामें अभिव्यक्त हो रही है।

हमारी साधारण चेतनाके लिये विश्वात्माकी यह इच्छा-शक्ति ऐसी चीज नहीं है जो एक स्वतंत्र शक्तिके रूपमें कार्य करती हो और जो चाहे वही करती हो; हमारी चेतना तो ऐसा समझती है कि यह इन सभी सत्ताओंके द्वारा, संसारमें क्रिया करनेवाली

सभी शक्तियों और उन शक्तियोंके नियम तथा उनके परिणाम-के द्वारा कार्य करती है—जब हम अपने-आपको इस इच्छा-शक्ति-की ओर उद्‌घाटित करते हैं और अपनी साधारण चेतनासे बाहर निकल जाते हैं केवल तभी हम ऐसा अनुभव कर सकते हैं कि यह एक स्वतंत्र शक्तिके रूपमें जगत्‌की शक्तियोंकी सामान्य क्रिया-ओंमें हस्तक्षेप करती है तथा उन्हें अपनी इच्छाके अधीन रखती है।

और उस समय हम यह भी देख सकते हैं कि उन शक्ति-योंकी क्रीड़ाके अंदर भी तथा उनकी विकृतियोंके होते हुए भी विश्वात्माकी यह इच्छाशक्ति परिणामतः परात्पर भगवान्‌के संकल्पको ही सिद्ध कर रही है।

विज्ञानमय सिद्धिका सकल्प परात्पर भगवान्‌का ही संकल्प है जिसे हमें यहां पूर्ण करना है। जिन परिस्थितियोंमेंसे होकर हमें यह कार्य करना है वे परिस्थितियां निम्नतर चेतनाकी हैं जिनमें हमारी अपनी ही अज्ञता, दुर्बलता और प्रमादशीलताके कारण तथा विभिन्न विरोधी शक्तियोंके परस्पर संघर्षके कारण बहुतसी बातें विकृत हो सकती हैं। अतएव श्रद्धा और समता-का होना अत्यावश्यक है।

हमें ऐसी श्रद्धा रखनी होगी कि हमारे अज्ञान, प्रमाद और दुर्बलताके होते हुए भी, विरोधी शक्तियोंके आक्रमणोंके होते हुए भी तथा अभी आपाततः हमारी विफलता दिखायी देनेपर भी भागवत संकल्प हमें, प्रत्येक परिस्थितिसे होते हुए, अंतिम सिद्धि-की ओर लिये जा रहा है। यह श्रद्धा हमें समता प्रदान करेगी; यह वह श्रद्धा है जो, जो कुछ भी होता है, उसे स्वीकार करती

है, पर उसे अंतिम नहीं मानती, बल्कि यह मानती है कि यह जो कुछ अवस्था है उसमेंसे होकर ही उसे अग्रसर होना है। जब एक बार यह समता स्थापित हो जाती है तब फिर इसीसे बल पाकर दूसरे प्रकारकी श्रद्धा भी स्थापित हो सकती है जो विज्ञानमयी चेतनासे प्राप्त होनेवाली किसी शक्तिसे युक्त होकर क्रियाशील हो सकती है और जो वर्तमान परिस्थितियोंपर विजय प्राप्त कर यह निश्चित कर सकती है कि क्या होना चाहिये तथा जो परात्पर भगवान्के संकल्पकी सिद्धिको यहां ले आनेमें सहायता कर सकती है।

जो श्रद्धा विश्वात्मा भगवान्के प्रति प्रवाहित होती है वह अपनी क्रियाशक्तिमें विश्वलीलाकी आवश्यकताओंके द्वारा सीमित होती है।

इन सीमाओंसे एकदम मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम परात्पर भगवान्को प्राप्त करें।

२४ जून १९३१

भगवान्‌का त्रिविध स्वरूप

परात्पर पुरुष, विश्व-पुरुष और व्यष्टि-पुरुषका भेद कोई मेरा अपना आविष्कार नहीं है और न यह भारत या एशिया-की ही कोई खास चीज है,–प्रत्युत यह यूरोपकी भी एक सर्व-मान्य शिक्षा है जो कैथोलिक संप्रदायमें गुप्त-ज्ञानपरंपराके रूपमें प्रचलित है और जो उस संप्रदायमें त्रिमूर्ति (Trinity) अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्रात्मा (Holy Ghost) के प्रामा-णिक अर्थके रूपमें स्वीकार की जाती है,–और इसका अनुभव यूरोपके बहुतसे योगियोंको भी हो चुका है। यह बीज-रूपमें उन सभी आध्यात्मिक साधनाओंमें वर्तमान है जो भगवान्‌की सर्वव्यापकताको स्वीकार करती हैं–भारतके वैदांतिक अनुभवमें है और इस्लामके योगमार्गमें भी है (केवल सूफियोंमें ही नहीं, बल्कि अन्य संप्रदायोंमें भी है)–और मुसलमान तो केवल दो या तीन ही नहीं बल्कि भगवान्‌के कई स्तर मानते हैं जिन्हें पार करनेपर ही परमकी प्राप्ति होती है। अब स्वयं इस त्रिविधता-के विषयमें यह जानना चाहिये कि व्यष्टि, देशकालावच्छिन्न समष्टि और वह चीज जो इस विश्व-रचना या किसी भी विश्व-रचना-के परे है, इन तीनोंमें अवश्य ही अंतर है। एक विश्व-चेतना है जिसका अनुभव बहुतोंको हुआ है और जो अपनी व्याप्ति और क्रियामें व्यष्टि-चेतनासे एकदम भिन्न है। और अगर इस विश्व-

चेतनासे परे कोई और चेतना हो जो अनंत और स्वरूपतः शाश्वत हो, केवल कालके अंदर प्रसारित न हो तो वह भी इन दोनों चेतनाओंसे अवश्य ही भिन्न होगी। और यदि भगवान् इन तीनों-में हों या अपने-आपको अभिव्यक्त करते हों तो क्या यह बात समझमें नहीं आती कि इन तीनोंमें वे अपने स्वरूप और कार्य-पद्धतिको इतना अधिक अलग-अलग रखते होंगे कि यदि हम अनु-भूत संपूर्ण सत्यको यथार्थ रूपमें देखना चाहते हों, सबको एक साथ मिला-जुलाकर कुछ-का-कुछ न समझना चाहते हों, यदि किसी अनिर्देश्यकी केवल निश्चल अवस्थाकी अनुभूतिमें ही आबद्ध न रहना चाहते हों तो हमें मानना ही पड़ेगा कि भगवान्के तीन स्वरूप हैं?

भगवत्स्वरूपके विषयमें ये जो तीन प्रकारके अनुभव संभा-वित हैं, इनके प्रति हमारा जब जैसा भाव होता है उसीके अनु-सार हमारी योगसाधनामें भी बहुत अधिक क्रियात्मक भेद हो जाता है। अगर हम केवल ऐसे भगवान्की उपलब्धि करें जो हमारे व्यष्टिगत अहं आत्मा नहीं हैं, फिर भी जो गुप्त रूपसे हमारी समस्त व्यष्टिगत सत्ताको चला रहे हैं और जिन्हें हम परदेसे बाहर निकालकर सामने ला सकते हैं, अथवा अगर हम अपनी सत्ताके सभी अंगोंमें उन भगवान्को मूर्तिमान् करें तो यह सब है भगवान्की ही एक उपलब्धि, पर है सीमित ही। अगर हमें ऐसे भगवान्की अनुभूति हो जो विश्वात्मा हों और जिनमें हम अपने समस्त व्यष्टिगत आत्माको लय कर दें तो यह है तो एक बहुत व्यापक उपलब्धि, पर इससे हम विश्व-शक्तिके ही एक स्रोतमार्ग भर रह जायेंगे, इससे हमारी व्यष्टिसत्ताकी, दिव्य

व्यक्तित्वकी परिपूर्णता नहीं प्राप्त होगी। अगर हम परात्पर भगवान्‌की उपलब्धिकी ओर सीधे दौड़ पड़ें तो हम अपने-आपको और जगत्‌को भी परात्पर निर्विशेषके अंदर खो बैठेंगे। अगर, इसके विपरीत, हमारा लक्ष्य इनमेंसे कोई भी एक न हो, बल्कि हमारा लक्ष्य भगवान्‌को प्राप्त करना और साथ ही जगत्‌में उन्हें प्रकट करना और इस लक्ष्यकी पूर्त्तिके लिये विज्ञान-सत्यकीसी किसी ऐसी शक्तिको, जो अबतक यहां व्यक्त न हुई हो, यहां अवतरित कराना हो तो इन तीनोंका सामंजस्य अत्यावश्यक हो जाता है। जब हमें उस शक्तिको नीचे उतार लाना है तब फिर हम अव्यक्त परात्परके सिवा और कहांसे उसे नीचे उतारेंगे? —क्योंकि अभीतक तो वह इस विश्व-रचनामें व्यक्त ही नहीं हुई है—और फिर इसके लिये तो हमें परात्पर भगवान्‌तक पहुंचना और उन्हें प्राप्त करना ही होगा। फिर हमें उसे इस विश्व-रचनाके अंदर उतार लाना है और अगर ऐसा करना है तो फिर हमें विश्वात्मा भगवान्‌को प्राप्त करना ही होगा और विश्व-पुरुष तथा विश्व-शक्तियोंके विषयमें सचेतन होना ही होगा। परंतु हमें उसे यहां मूर्तिमान् भी करना है,—अन्यथा वह केवल एक प्रभावके रूपमें ही रह जायगी, भौतिक जगत्‌की एक स्थायी वस्तु नहीं हो सकेगी, और यह कार्य एकमात्र व्यष्टिभावापन्न भगवत्स्वरूपके द्वारा ही संभव हो सकेगा।

वास्तवमें ये तीनों ही ऐसे तत्त्व हैं जिनके द्वारा ही आध्यात्मिक अनुभूति जीवनमें क्रियान्वित हो सकती है और अगर हमें भागवत कार्य करना है तो इन तीनोंको हमें स्वीकार करना ही होगा।

१२ जून १९३२

कुछ आध्यात्मिक समस्याएं

तुमने अपने पत्रमें अपने प्रश्नको जिस रूपमें उपस्थित किया है, उससे ऐसा मालूम होता है कि वह शब्दोंसे बेतरह बंधा हुआ है और उसमें इस बातका पूरा ध्यान नहीं रखा गया है कि विश्वकी घटनाएं और शक्तियां नमनीय हैं, कठोर नियमोंसे आबद्ध नहीं हैं। तुम्हारा प्रश्न कुछ वैसा ही लगता है जैसा कोई सायंसके बिलकुल हालके सिद्धांतोंके आधारपर यह पूछे कि यदि यह जगत् और इसमें जो कुछ है वह सब प्रोटनों और इलेक्ट्रनों-से ही बना हुआ है और ये सब प्रोटन और इलेक्ट्रन ठीक एक-से ही हैं (भेद केवल उनके विभिन्न समुदायोंके अंतर्गत उनकी संख्यामें ही है, और इस तरह संख्याभेदके कारण ही उनके गुणों-में भी इतना अधिक अथवा किसी प्रकारका भी भेद क्यों होना चाहिये ?) तो फिर उनके कार्यके परिणाममें मात्रा, जाति, शक्ति तथा सभी प्रकारका इतना विपुल वैषम्य कैसे हो जाता है ? पर हम ऐसा क्यों मान लें कि हृत्पुरुष (Psychic) रूपी बीज या स्फुलिंग एक ही समय, एकसी ही अवस्थामें, एकसी ही शक्ति और स्वभावसे युक्त होकर, एक साथ ही अपने मूल स्थानसे किसी दौड़की होड़ लगाकर निकल पड़े होंगे ? माना कि एक भगवान् ही सबके मूल हैं और एक ही आत्मा सबके अंदर विद्यमान है; परंतु अपनी अभिव्यक्तिके लिये वह अनंत

भगवान् अपने-आपको अनंत वैचित्र्यके अंदर क्यों नहीं ढाल सकते, क्यों उनके असंख्य रूप एकसे ही होने चाहियें? ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता कि इन हृत्पुरुषरूपी बीजोंमेंसे कितने ही बीज तो अन्य बीजोंसे बहुत पहले ही रवाना हुए थे और वे दीर्घ कालसे विकसित होते आ रहे हैं तथा कितने ही अभी केवल शिशु और कच्चे तथा अर्धविकसित अवस्थामें ही हैं? और जो बीज एक साथ रवाना हुए उनमें भी ऐसा क्यों नहीं हो सकता कि कुछ तो बड़ी तेजीसे दौड़ पड़े हों और कुछ अलसाते हुए, बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़े हों अथवा चक्कर काटते रहे हों? और फिर क्रम-विकासकी भी एक क्रिया है, और विकासकी एक विशेष अवस्थामें ही जीव पशु-प्रांतको पार कर मानव-जीवनका आरंभ करता है। यह मानव-जीवन जो एक बड़ी क्रांति या परिवर्तन है, इसका आरंभ ही होता कैसे है? पशु-प्रांतकी सीमा-तक तो प्राण और शरीर ही विकसित होते रहते हैं—मानव-जीवनका आरंभ करनेके लिये क्या यह आवश्यक नहीं है कि मनो-मय पुरुष अवतरित होकर प्राण और शरीरके विकासका कार्य अपने हाथमें ले? और क्या यह नहीं हो सकता कि जितने मनो-मय पुरुष इस तरह अवतरित हों वे सभी एक ही शक्ति और अवस्थाके न हों, और फिर एक समान ही विकसित प्राण और शरीरको ग्रहण न करते हों? इसके अतिरिक्त एक ऐसी भी मान्यता है कि इस हमारे वर्तमान जगत्के ऊपर देवताओंकी एक श्रेणी-परंपरा है और ये देवता इस जगत्में क्रिया करते हैं जिस-का परिणाम स्पष्ट ही यहांपर इस प्रकारका तारतम्य और वैषम्य उत्पन्न करनेके रूपमें ही होता होगा, और कभी-कभी ये देवता

मानव-प्रकृतिमें जन्म लेकर इस विश्व-लीलामें अवतरित होते और इसकी क्रियामें फेरफार करते हैं। इस तरहकी कितनी ही जटिल बातें हैं और इसलिये यह प्रश्न गणितके किसी सूत्रकी तरह कठोरतापूर्वक कसकर उपस्थित नहीं किया जा सकता।

ऐसे प्रश्नोंमें, विशेषकर जहां बुद्धिको चकरानेवाला विरोध दिखायी देता है, सबसे बड़ी कठिनाई तो प्रश्नको ठीक तरहसे उपस्थित न करनेके कारण ही उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, पुनर्जन्म और कर्मके विषयमें जो लोकधारणा है उसे देखो—इस धारणाकी बुनियाद महज मन-बुद्धिकी यह मान्यता है कि प्रकृति-की सभी क्रियाएं नैतिक ही होनी चाहियें और इस तरह होती रहनी चाहियें जिसमें सबके साथ ठीक एक समान न्यायका बर्ताव होता रहे—खूब सावधानीके साथ, यहांतक कि पाई-पाईका हिसाब कसकर पुरस्कार और दंडका विधान होता रहे अथवा कम-से-कम 'जैसेको तैसा' की जो मानव-धारणा है उसके अनुसार सबको अपने कर्मका फल मिलता रहे। परंतु प्रकृति नीतिधर्मसे बद्ध नहीं है—वह अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये नैतिक, अनैतिक और नीतिभावशून्य सभी प्रकारकी शक्तियों और प्रक्रियाओंको मिला-जुलाकर अपने उपयोगमें लाती है। प्रकृतिका जो बाह्य रूप है उसे देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि वह अपना कार्य करा लेने अथवा जीवनके खेलमें विलक्षण वैचित्र्यके लिये अवस्थाएं उत्पन्न करनेके सिवा और किसी बातकी परवा नहीं करती। परंतु प्रकृतिका जो अंतःस्वरूप है, जहां वह एक सचेतन अध्यात्म-शक्ति है, उस दृष्टिसे उसका कार्य है, अनुभूतिके द्वारा, उन जीवों-की उन्नति कराना, आध्यात्मिक विकास कराना जिनका भार

उसने अपने ऊपर ले रखा है—और इस विषयमें उन जीवोंकी भी अपनी-अपनी इच्छाका संबंध रहता ही है। ये सब भले आदमी इस बातपर रोते-चिल्लाते और आश्चर्य करते हैं कि बिना कारण ही उनपर और दूसरे भले आदमियोंपर ऐसे अर्थहीन दुःख-कष्ट और संकट क्यों आया करते हैं। परंतु क्या वास्तवमें ये सब दुःख-संकट किसी बाहरी शक्ति अथवा कर्मके किसी यांत्रिक विधानसे आते हैं? क्या यह संभव नहीं है कि स्वयं जीवने ही—बाहरी मनने नहीं, वरन् भीतरी आत्माने—अपने क्रम-विकासके एक अंगके रूपमें इन चीजोंको स्वीकार या पसंद किया हो जिस-से कि वह अपने बाहरी जीवन और शरीरको काफी हानि पहुं-चानेकी संभावना होनेपर भी अथवा उन्हें काफी हानि पहुंचनेपर भी आवश्यक अनुभूतिसे गुजरते हुए, अपना रास्ता चीरते हुए तीव्र गतिसे आगे बढ़ जाय? क्या यह बात नहीं हो सकती कि ये कठिनाइयां, विघ्न-बाधाएं और विरोधी शक्तियोंके आक्रमण विकसनशील जीवके लिये—अन्तःस्थित आत्माके लिये—वे साधन हों जिनसे उसका विकास होता हो, उसकी शक्ति बढ़ती हो, उसका अनुभव-क्षेत्र विकसित होता हो, आध्यात्मिक विजयके लिये उसे शिक्षा प्राप्त होती हो? संभव है कि इसी दृष्टिसे इन सब बातोंकी व्यवस्था की गयी हो और यह केवल रुपया, आना और पाईका हिसाब लगाकर पुण्यके लिये पुरस्कार देने तथा पापके लिये दंडरूप दुःख-कष्ट देनेका सवाल न हो!

तुम्हारे मित्रने अपने पत्रमें एक विशेष परिस्थितिमें पशुके जीवनका अंत करनेका जो प्रश्न उठाया है उसके विषयमें भी ठीक यही बात कही जा सकती है। इस प्रश्नकी भी बुनियाद

वही अपरिवर्तनीय नैतिक पाप-पुण्य-विचार है जिसे लोग सभी बातोंपर घटाया करते हैं—प्रश्न किया जाता है कि क्या, किसी भी अवस्थामें, पशुका प्राण लेना उचित है, क्या किसी पशुको अपनी आंखोंके सामने दुःख भोगने देना उचित है जब कि हम उसे आसानीसे मारकर उस दुःखसे बचा सकते हैं? इस तरहसे उपस्थित किये हुए प्रश्नका कोई भी निस्संदिग्ध उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि इसका उत्तर ऐसी बातोंपर निर्भर करता है जो मनके सामने उपस्थित नहीं हैं। वास्तवमें और भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनके कारण लोग, ऐसी कठिनाईसे बाहर निकलनेके लिये चटपट काम बनानेवाले, दयापूर्ण रास्तेकी ओर ही झुक पड़ते हैं—स्नायविक दुर्बलता, जिसके कारण वे इतना अधिक दुःख-कष्ट देख या सुन नहीं सकते, व्यर्थकी तकलीफ, परेशानी और असुविधा—ये सब बातें इस धारणाको प्रबल बनाती हैं कि स्वयं वह पशु ही इस यंत्रणासे त्राण पाना चाहता होगा। परंतु वह पशु वास्तवमें इस विषयमें क्या चाहता है? क्या यह संभव नहीं है कि उस दुःखके होनेपर भी वह जीवनसे ही चिपटा रहना चाहता हो? अथवा क्या यह नहीं हो सकता कि उसके अंतःस्थित जीवने ही स्वयं इन दुःख-कष्टोंको इसलिये वरण किया हो कि द्रुततर विवर्तनके द्वारा वह जीवनकी एक उच्चतर अवस्थामें पहुंच जाय? यदि ऐसा हो तो जिस दयाके वश हम उसके जीवनका अंत कर डालते हैं वह शायद उसके कर्ममें बाधक ही हो सकती है। वास्तवमें इस विषयमें ठीक-ठीक निर्णय प्रत्येक प्रसंगके अनुसार अलग-अलग ही हो सकता है और वह निर्णय उस ज्ञानपर ही निर्भर करता है जो मानव-मनको प्राप्त नहीं है—और

यहां यह भी जोरके साथ कहा जा सकता है कि जबतक मनुष्य-को यह ज्ञान प्राप्त न हो जाय तबतक उसे किसीकी जान लेनेका अधिकार नहीं है। इसी सत्यको अस्पष्ट रूपमें देखकर धर्म और नीतिने अहिंसा-धर्मका विकास किया था–पर यह अहिंसा-धर्म भी एक ऐसा मानसिक नियम बन जाता है कि जिसे व्यव-हारमें लाना असंभव ही मालूम होता है। और संभवतः इन सब बातोंका यही तात्पर्य निकलता है कि अभी जैसी स्थिति है उसमें हम लोगोंको प्रत्येक प्रसंगमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार जो बात सबसे उत्तम मालूम हो वही करनी चाहिये, परंतु इन समस्याओंका ठीक-ठीक समाधान तो तभी हो सकता है जब हम उस महत्तर प्रकाशकी ओर, उस बृहत्तर चेतनाकी ओर आगे बढ़ें जिसमें मानव-मनके द्वारा अभी उपस्थित किये गये ये प्रश्न इस रूपमें उठेंगे ही नहीं, क्योंकि उस समय हमें वह दृष्टि प्राप्त होगी जिसके द्वारा हम संसारको एक दूसरे ही रूपमें देखेंगे और एक ऐसा पथप्रदर्शन हमें प्राप्त होगा जो अभी हमें प्राप्त नहीं है। मानसिक या नैतिक नियम केवल कामचलाऊ नियम हैं और मनुष्यको बड़ी अनिश्चितताके साथ और ठोकरें खाते हुए तबतक इनका उपयोग करना ही पड़ता है जबतक आत्माके प्रकाश-में सब वस्तुओंको पूर्ण रूपमें देखनेकी क्षमता उसे नहीं प्राप्त हो जाती।

२९ जून १९३२

पुनर्जन्म और व्यक्तित्व

पुनर्जन्मके संबंधमें जो सामान्य भ्रांत लोकधारणा है उसे तुम्हें कभी प्रश्रय नहीं देना चाहिये। लोगोंकी सामान्य धारणा यह है कि अहोबल पंडितने ही जगेश्वर मिश्रके रूपमें पुनः जन्म लिया है, वे बिलकुल वही आदमी हैं, उनका व्यक्तित्व, स्वभाव और गुण-गरिमा जो कुछ पहले जीवनमें था ठीक वही इस जन्म-में भी है, अंतर केवल इतना ही है कि पूर्वजन्ममें वह सिरपर एक बहुत बड़ी पगड़ी बांधते थे और अब दुपल्ली टोपी देते हैं, पहले संस्कृत-भाषामें बातचीत करते थे और अब ठेठ हिंदी बोलते हैं। परंतु बात ऐसी नहीं है। भला उसी व्यक्तित्व या स्वभाव-को, कल्पके आरंभसे अंततक, लाखों बार दुहराते रहनेसे क्या लाभ हो सकता है? जीव जन्म लेता है अनुभवके लिये, अपनी वृद्धिके लिये, अपने क्रमविकासके लिये, जिसमें अंतमें वह इस जड़तत्त्वके अंदर भगवान्‌को उतार सके। यही केंद्रीय पुरुष (हृत्-पुरुष) जन्म लेता है, बाहरी व्यक्तित्व नहीं—व्यक्तित्व तो महज एक सांचा है जिसे केंद्रीय पुरुष अपने एक जीवनके अनुभवोंको रूपान्वित करनेके लिये निर्मित करता है। दूसरे जीवनमें वह अपने लिये एक दूसरा ही व्यक्तित्व, दूसरी ही योग्यता, दूसरा ही जीवन और कार्यक्षेत्र निर्माण करता है। मान लो कि वीर-कवि वर्जिल (Virgil) का पुनर्जन्म हुआ। संभव है कि वह

एक या दो और जन्मोंमें कविता ही लिखें, पर अब वह निश्चय ही कोई महाकाव्य नहीं लिखेंगे, बल्कि संभवतः छोटी-छोटी, पर सुन्दर भावमय ललित गीतिकाएं ही लिखेंगे जैसी गीतिकाएं उन्हों-ने रोममें लिखनेकी चेष्टा तो की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। फिर किसी दूसरे जन्ममें यह हो सकता है कि वह कवि ही न हों, बल्कि एक दार्शनिक और योगी हों और उच्चतम सत्यको प्राप्त करने और अपने जीवनमें अभिव्यक्त करनेका प्रयास करें—क्योंकि इस ओर भी उस जीवनमें उनकी चेतनाका झुकाव था और इसे वह अपने जीवनमें सार्थक नहीं कर सके थे। उस जन्मसे पहले, संभव है कि, वह कोई योद्धा या शासक रहे हों और एइनीज (Aeneas) या आगस्टस (Augustus)की भांति उन्होंने भी स्वयं पराक्रम दिखाये हों और फिर उसके बाद-के जन्ममें उन्हीं बातोंका अपनी कवितामें बखान किया हो। तात्पर्य, इस तरहसे यह केंद्रीय पुरुष विभिन्न जन्मोंमें एक नया ही चरित्र, एक नया ही व्यक्तित्व निर्माण करता है, वृद्धिको प्राप्त होता है, विकसित होता है, सब प्रकारके पार्थिव अनुभवोंको पार करता हुआ आगे बढ़ता है।

जैसे-जैसे यह विकसनशील जीव अधिकाधिक विकसित होता जाता है और अधिकाधिक समृद्ध तथा जटिल होता जाता है वैसे-वैसे वह अपने विविध व्यक्तित्वोंको मानो संचित करता जाता है। कभी-कभी ये व्यक्तित्व क्रियाशील वृत्तियोंके पीछे वर्त-मान रहते हैं और अपना कोई रंग, कोई विशेषत्व, कोई सामर्थ्य जहां-तहां उनके अंदर ढालते रहते हैं;—अथवा कभी-कभी ये सामने आ जाते हैं और तब एक बहुविध व्यक्तित्व प्रकट होता

है, एक बहुमुखी चरित्र या सामर्थ्य अभिव्यक्त होता है जो कभी-कभी सर्वतोमुखी सामर्थ्यकी तरह ही दिखायी देता है। पर, इस प्रकारसे जब पहलेका कोई व्यक्तित्व, कोई सामर्थ्य पूर्ण रूप-से सामने आ जाता है तब उसका उद्देश्य पहले किये हुए कर्मों-को ही दुहराना नहीं होता, बल्कि उसका उद्देश्य होता है उसी सामर्थ्यको नये आकार-प्रकारमें ढालना तथा उसे जीवके नव-विकसित सामंजस्यके अंदर सम्मिलित कर देना, जो कुछ पहले था उसीको फिरसे प्रकट करना नहीं। अतएव तुम्हें ऐसी आशा नहीं रखनी चाहिये कि जो पहले योद्धा और कवि थे वे फिरसे वैसे ही योद्धा और कवि होंगे। इन बाह्य लक्षणोंमेंसे कोई-कोई लक्षण फिरसे प्रकट हो सकते हैं, पर बहुत-कुछ परिवर्तित होकर तथा एक नये समवायके अंदर नये रूपमें ढलकर ही प्रकट होंगे। अब उनकी सारी वृत्तियां एक नयी दिशामें ही परिचालित होंगी जिसमें उनके द्वारा वह कार्य हो सके जो पहले नहीं हुआ था।

एक बात और है। मनुष्यका व्यक्तित्व, चरित्र ही वह वस्तु नहीं है जो पुनर्जन्ममें सबसे अधिक महत्त्व रखती हो—वह वस्तु है हृत्पुरुष जो प्रकृतिके क्रमविवर्तनके पीछे विद्यमान रहता है और उसके साथ-साथ विकसित होता रहता है। यह हृत्पुरुष जब शरीरको छोड़ देता है, और फिर रास्तेमें मनोमय और प्राण-मय कोषोंको भी त्याग कर अपने विश्राम-स्थानमें जाता है तब वह अपने साथ अपने अनुभवोंका सार-तत्त्व भी लेता जाता है—अवश्य ही भौतिक घटनाओंको नहीं, प्राणकी क्रियाओंको नहीं, मनकी रचनाओंको नहीं, बाह्य व्यक्तित्वके रूपमें प्रकट होनेवाले सामर्थ्य और चरित्रको नहीं, प्रत्युत उस सार-वस्तुको लेता जाता

है जिसे वह इन सबके अंदरसे एकत्र करता है, जिसे हम दिव्य तत्त्व कह सकते हैं और जिसके लिये ही इन सबकी योजना की गयी थी। यही सार-तत्त्व उसका चिरस्थायी अंग बनकर रहता है और यही वह चीज है जो जीवनमें भगवान्‌की उपलब्धि करनेमें उसकी सहायता करती है। यही कारण है कि प्रायः पूर्वजन्मोंकी बाह्य घटनाओं और अवस्थाओंकी स्मृति मनुष्यको नहीं रहती—इस स्मृतिको बनाये रखनेके लिये इतना सुदृढ़ विकास होनेकी आवश्यकता है कि मन, प्राण और सूक्ष्म शरीरतककी एक अटूट स्थिति बनी रहे, क्योंकि पूर्वजन्मकी सारी बातें यद्यपि एक प्रकारकी बीज-रूपा स्मृतिमें बनी रहती हैं फिर भी साधारणतया बाहर प्रकट नहीं होतीं। जो दिव्य तत्त्व योद्धाके शौर्य-वीर्यमें था, जो कुछ उसकी राजभक्ति, महानुभावता और उच्च साहसके अंदर अभिव्यक्त हुआ था, जो कुछ दिव्य तत्त्व कविके सामंजस्यपूर्ण मन और उदार प्राणके पीछे विद्यमान था और जो इनके अंदर व्यक्त हुआ था वह सदा रहता है और कभी-कभी चरित्रके एक नये सामंजस्यके अंदर नये रूपमें प्रकट हो सकता है; अथवा अगर जीवन भगवान्‌की ओर मुड़ जाय तो वह सार-तत्त्व भगवत्प्राप्ति या भगवत्कार्यकी सिद्धिके लिये एक शक्तिके रूपमें परिणत किया जा सकता है।

१७ जून १९३३

इस जगत्की पहेली

इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, कोई आध्यात्मिक अनुभूति अस्वीकार नहीं कर सकती कि यह जगत् आदर्श-स्वरूप और संतोषजनक नहीं है; इसपर अपूर्णता, दुःख-ताप और बुराईकी बड़ी गहरी छाप पड़ी हुई है। वास्तवमें एक तरहसे इसी प्रतीतिसे आध्यात्मिक प्रवृत्तिका आरंभ होता है––केवल थोड़े-से ही लोग ऐसे होते हैं जिन्हें महत्तर अनुभव अपने-आप ही होता है, जो इस समस्त दृश्यमान जगत्के ऊपर छायी हुई कराल छायाके प्रबल या अभिभूतकारी, कष्टप्रद और विरक्तकारी बोध-से विवश हुए बिना ही अध्यात्ममें प्रवृत्त होते हैं। परंतु फिर भी यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि क्या वास्तवमें यही––जैसा कि कहा जाता है––दृश्यमान जगत्का मूल स्वरूप है अथवा कम-से-कम जितने दिन जड़ जगत् है उतने दिन क्या इसका स्वरूप ऐसा ही रहेगा और इस कारण क्या हमें यह मानना ही पड़ेगा कि जन्म ग्रहण करनेकी इच्छा ही, अभिव्यक्ति या सृष्टिकी एषणा ही मूल पाप है और जन्म तथा अभिव्यक्तिसे अलग हो जाना ही मुक्तिका एकमात्र उपाय है? जो लोग सृष्टिको इसी रूपमें देखते हैं अथवा इसीसे मिलती-जुलती किसी दृष्टिसे देखते हैं––और उन्हींकी संख्या अधिक रही है––उनके लिये इस विश्व-प्रपंचसे बाहर निकलनेके कई सुपरिचित पथ हैं, उनकी आध्यात्मिक मुक्ति-

का कटा-छंटा सीधा रास्ता तैयार है। परंतु उसी तरह यह भी तो संभव है कि यह जगत् ऐसा न भी हो, बल्कि हमारे अज्ञान या आंशिक ज्ञानके कारण हमें ऐसा दिखायी भर देता हो—यह अपूर्णता, यह बुराई, यह शोक-संताप एक प्रतिकूल अवस्थामात्र हो अथवा दुःखपूर्ण एक मध्यवर्ती मार्गमात्र हो, पर अभिव्यक्तिका यह कोई विशिष्ट लक्षण न हो, प्रकृतिमें जीव-जन्मका यह मूल स्वरूप न हो? और अगर ऐसा हो तो फिर सबसे बड़ी बुद्धिमानी इस जगत्से भागनेमें नहीं, बल्कि यहीं विजय प्राप्त करनेकी प्रवृत्तिमें है, इस जगत्के पीछे जो संकल्प-शक्ति है उसका स्वेच्छापूर्वक साथ देनेमें है, पूर्णताके उस आध्यात्मिक द्वारको खोज निकालनेमें है जिसके साथ-साथ दिव्य ज्योति, ज्ञान, शक्ति और आनंदके पूर्ण अवतरणका भी मार्ग खुल जाय।

सभी आध्यात्मिक अनुभूतियां इस बातको प्रस्थापित करती हैं कि जिस क्षणभंगुर नामरूपात्मक जगत्में हम निवास करते हैं और जिस सीमित चेतनाकी तंग चौहद्दीके अंदर हम अंधेकी तरह टटोलते और प्राणपण संग्राम करते हैं, उनके ऊपर एक नित्य सद्वस्तु विद्यमान है और उसके लक्षण ये हैं कि वह अनंत है, स्वयंभू है, चिरस्वतंत्र है, परमज्योतिर्मय और परम आनंदमय है। तब यहां यह प्रश्न उठता है कि इस तरह जो कुछ परे है और जो कुछ यहां है इन दोनोंके बीच क्या कोई ऐसी खाड़ी है जिसपर पुल नहीं बांधा जा सकता अथवा क्या ये दोनों चिरकालके लिये एक-दूसरेसे विपरीत हैं और कालके अंदर होनेवाले इस दुःसाहसिक खेलको केवल छोड़कर ही, इस खाड़ीको लांघकर ही मनुष्य उस शाश्वत सत्यको प्राप्त कर सकता है? आध्यात्मिक

अनुभूतिकी एक धारा, मालूम होता है, यहीं आकर समाप्त हो गयी है और इसकी अंतिम सीमातक इसका कठोरतापूर्वक अनुसरण बौद्धधर्मने किया है और इससे कुछ कम कठोरतापूर्वक अद्वैतवादकी एक शाखाने भी किया है जो जगत्के साथ भागवत सत्ताका कुछ संबंध स्वीकार तो करती है पर फिर भी अंतमें जाकर एकको सत्य और दूसरेको मिथ्या कहकर दोनोंका नित्य विरोध प्रस्थापित करती है। परंतु एक दूसरा और असंदिग्ध अनुभव यह भी है कि भागवत सत्ता यहां प्रत्येक वस्तुमें और साथ ही प्रत्येक वस्तुके ऊपर और पीछे भी विद्यमान है और जब हम जगत्के बाह्य रूपके पीछे उसके सत्य-स्वरूपमें पहुंचते हैं तब हम देखते हैं कि सब कुछ 'उसी' में है और सब कुछ 'वही' है। यह भी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण और उद्बोधक बात है कि ब्रह्मज्ञ पुरुष इस जगत्में विचरते और कर्म करते हुए भी, जगत्के सभी आघातोंको सहन करते हुए भी भगवान्की परम शांति, ज्योति और आनंदमें निवास कर सकते हैं। और इससे यह पता चलता है कि इन दोनोंके तीव्र विरोधके अतिरिक्त भी यहां कोई और बात है—कोई रहस्य है, कोई ऐसी समस्या है जिसका इस उत्कट समाधानके सिवा कोई और समाधान भी संभव है। यह आध्यात्मिक संभावना अपनेसे परे एक महत्तर सफलताकी ओर संकेत करती है और हमारे अधःपतित जीवनके अंधकारके अंदर आशाकी किरण ले आती है।

और अब सबसे पहले यह प्रश्न उठता है—क्या यह जगत् सदासे एक ही दृश्य वस्तुका अपरिवर्तनीय पुनरावर्तनमात्र है अथवा इसमें क्रमविवर्तनकी कोई प्रेरणा है, विकसनशील कोई तत्त्व है,

कहीं कोई ऐसा सोपान है जो मूल आपात निश्चेतनासे अधिकाधिक विकसित चेतनाकी ओर जाता है, प्रत्येक विकसित अवस्थासे और भी ऊपर उठते हुए किसी ऐसी ऊंची-से-ऊंची ऊंचाईतक चला जाता है जो साधारणतया अभी हमारी पहुंचके बाहर है? यदि ऐसा हो तो उस उत्तरोत्तर उत्थानका आखिर तात्पर्य क्या है? उसका मूलतत्त्व क्या है और उसका युक्तिसंगत परिणाम क्या है? जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि इस तरहका कोई उत्थानक्रम वास्तवमें है—केवल भौतिक विकास-क्रम ही नहीं, वरन् आध्यात्मिक विकासक्रम भी है। इस धारणा-का भी समर्थन करनेवाली आध्यात्मिक अनुभूतिकी एक धारा है जिससे हमें यह पता चलता है कि जिस निश्चेतनासे सारी विकास-यात्रा आरंभ होती है, वह केवल आपाततः निश्चेतन है, क्योंकि उसके अंदर अपनी अंतहीन संभावनाओंको साथ लिये हुए एक चेतना निहित है, और वह चेतना सीमित नहीं है बल्कि वह विश्वव्यापी और असीम है, उसके अंदर स्वयं भागवत सत्ता अपने-आपको छिपाये हुए है, आबद्ध किये हुए है, और वह जड़-के अंदर अवरुद्ध तो है, पर अवरुद्ध है उसके निगूढ़ अंतस्तलमें अपनी सारी संभावनाओंको साथ लिये हुए। इस आपातनिश्चेतना-से प्रयेत्क संभावना बारी-बारीसे प्रकट होती है; सबसे पहले सु-संघटित जड़ पदार्थ प्रकट होता है जो अंतःस्थित आत्माको अपने अंदर छिपाये रखता है; उसके बाद उद्भिद्के अंदर प्राण आविर्भूत होता है और पशुके अंदर विकसनशील मनके साथ युक्त होता है; फिर स्वयं मन विकसित होता है और मनुष्यमें आकर सुव्यवस्थित होता है। यह जो विकासक्रम है, यह जो

आध्यात्मिक क्रमोन्नति है–यह क्या यहीं आकर, मनुष्यनामधारी इस अपूर्ण मनोमय प्राणीके अंदर ही आकर रुक जाती है? अथवा क्या इसका रहस्य बस इतना ही है कि मनुष्य बार-बार जन्म ग्रहण करता रहे और उसके इस जन्मांतरका एकमात्र उद्देश्य या परिणति यह हो कि अंतमें एक ऐसी अवस्थामें पहुंच जाय जहां वह यह अनुभव करे कि उसका बार-बार जन्म लेना वृथा है और वह इसका त्याग कर किसी आदि अज, सत् या असत्के अंदर कूद पड़े? कम-से-कम इस बातकी संभावना है, बादमें एक ऐसी अवस्था आती है जिसमें हमें इस बातका निश्चय हो जाता है कि जिसे हम मन कहते हैं उससे कहीं बृहत्तर एक चेतना है और इस विकाससोपानके द्वारा यदि हम और ऊपर उठें तो हम एक ऐसा स्थान पा सकते हैं जहां भौतिक निश्चेतना और प्राण तथा मनके अज्ञानका राज्य समाप्त हो जाता है; चेतनाके एक ऐसे विशेष तत्त्वके व्यक्त होनेकी संभावना हो जाती है जो आंशिक या अपूर्ण रूपमें नहीं, बल्कि आमूल और संपूर्ण रूपमें उस अवरुद्ध भागवत सत्ताको मुक्त कर देता है। इस दृष्टिसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमविकासका एक-एक स्तर चेतनाकी क्रमशः उच्चतर एक-एक शक्तिके अवतरणके कारण प्रकट हुआ है और इस अवतरणसे प्रत्येक बार जड़-तत्त्व उन्नत हुआ है, अभिव्यक्तिका नया-नया स्तर सृष्ट हुआ है; पर अभीतक सर्वोच्च शक्तियोंका अवतरण नहीं हुआ है और जब उनका अवतरण होगा तभी पार्थिव जीवनकी समस्याका समाधान होगा, और तब केवल अंतरात्मा ही नहीं प्रत्युत स्वयं प्रकृति भी मुक्ति प्राप्त करेगी। यही वह सत्य है जिसके स्वरूपकी झलक अधि-

काधिक पूर्ण मात्रामें उन ऋषियोंको मिली थी जिन्हें तंत्रोंमें वीर साधक और दिव्य साधक कहा गया है और जिसके पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त और अनुभूत होनेका समय अब संभवतः बहुत निकट आ गया है। अतएव जगत्के ऊपर संघर्ष, दुःखताप और अंधकारका चाहे जितना भी भार अबतक क्यों न रहा हो, अगर हमारे लिये यही इसका महत् परिणाम होनेवाला हो तो शक्तिमान् साहसी मनुष्य भूतकालके इन सभी संतापोंको, भविष्यमें प्राप्त होनेवाले गौरवके लिये बहुत अधिक मूल्य नहीं समझेंगे। जो हो, अंधकार दूर हो रहा है, एक भागवत ज्योति दिखायी पड़ रही है जो जगत्की ओर झुकी आ रही है और जो बहुत दूर अवस्थित एक अप्राप्य प्रभामात्र नहीं है।

अवश्य ही यह समस्या फिर भी रह ही जाती है कि जो कुछ जगत्में है इन सबकी—इस भद्दे प्रारंभकी, इस दीर्घ और संकटपूर्ण यात्राकी—आखिर आवश्यकता ही क्या थी—इतना अधिक और कष्टपूर्ण मूल्य मांगनेका काम ही क्या था, इस अशुभ और दुःख-क्लेशका आखिर प्रयोजन ही क्या था? इस प्रसंगमें दो प्रधान प्रश्न उठते हैं—अज्ञानके अंदर यह पतन क्यों हुआ और कैसे हुआ, किस प्रकारसे हुआ? इनमें 'क्यों' को छोड़कर 'कैसे' के विषयमें प्रायः सभी आध्यात्मिक अनुभूतियां मूलतः एक ही मत रखती हैं। उनका कहना है कि विभाग करने, पृथक् करने, नित्य और अद्वितीय भागवत सत्तासे अपने-आपको अलग कर लेनेकी जो मूल वृत्ति है उसीसे यह पतन हुआ है; यह पतन इसलिये हुआ है कि अहंकार अपने-आपको जगत्में स्थापित करता है, भगवान्के साथ अपने अभेद तथा सबके साथ अपने एकत्व-

के बदले अपनी ही कामना-वासना और आत्मप्रतिष्ठाके ऊपर अधिक जोर देता है; यह पतन इसलिये हुआ है कि सब शक्तियोंका सामंजस्य स्थापित करनेवाली एक परात्पर शक्ति, ज्ञान और ज्योतिके साथमें प्रत्येक भावना, प्रत्येक शक्ति, वस्तुओंके प्रत्येक रूपको, अनंत संभावनाओंकी राशिके अंदर जहांतक संभव हो, अपनी-अपनी पृथक् इच्छाके अनुसार और अंतमें अनिवार्य रूपसे अन्य सभी शक्तियोंके साथ संघर्ष करके भी, अपने-आपको चरितार्थ करनेका अवसर दिया गया है। विभाजन, अहंकार, अपूर्ण चेतना, अंधेरेमें टटोलना, पृथक् रहकर आत्मप्रतिष्ठाके लिये संघर्ष करना--ये बातें ही इस जगत्‌के अज्ञान और दुःख-कष्टके निमित्तकारण हैं। एक बार जहां एक अद्वितीय चेतनासे व्यष्टि-चेतनाएं पृथक् हुईं वहां उनका अज्ञानमें गिरना अनिवार्य हो गया और इस अज्ञानका अंतिम परिणाम हुआ निश्चेतना; एक तमसाच्छन्न विशाल निश्चेतनासे यह जड़ जगत् उत्पन्न हुआ है और फिर उसमेंसे ही अंतरात्मा प्रकट हुआ है जो क्रमविकासके द्वारा चैतन्य प्राप्त करनेका प्रयास कर रहा है, प्रच्छन्न ज्योतिकी ओर आकृष्ट होकर, जिस देवत्वसे वह आया है उसीकी ओर--यद्यपि अभी अंधेकी तरह ही--ऊपर उठ रहा है।

परंतु यह सब आखिर हुआ ही क्यों? इस प्रश्नको उठाने और इसका उत्तर देनेका जो साधारण तरीका है--मानव-स्वभावका जो तरीका है,--उसका नैतिक विद्रोह और आक्षेप, उसका भावोच्छ्वासपूर्ण रोना-चिल्लाना है--उसका सबसे पहले त्याग करना होगा। कारण, यह बात, जैसा कि कोई-कोई धर्म विश्वास करते हैं, ऐसी नहीं है कि किसी विश्वातीत, स्वेच्छाचारी ईश्वर-

ने, स्वयं इस पतनसे एकदम निर्लिप्त रहते हुए, अपनी ही आज्ञा-के अनुसार, मनमाने ढंगसे सभी प्राणियोंकी सृष्टि करके उनके ऊपर बुराई और दुःख-कष्टका बोझ जबर्दस्ती लाद दिया हो। जिस भगवान्‌को हम जानते हैं वह एक अनंत सत्ता हैं और उन-की अनंत अभिव्यक्तिके अंदर ये सब चीजें प्रकट हुई हैं—वही भगवान् स्वयं यहां हैं, हमारे पीछे हैं, समस्त अभिव्यक्तिको परि-व्याप्त किये हुए हैं, अपने एकत्वके ऊपर सारे जगत्‌को धारण किये हुए हैं; वही भगवान् हमारे अंदर रहकर स्वयं इस पतन और इसके अंधकारपूर्ण परिणामके भारको वहन कर रहे हैं। अगर वह भगवान् जगत्‌से ऊपर अपनी पूर्ण ज्योति, आनंद और शांतिमें सदा विराजमान रहते हैं तो फिर वही यहां भी हैं; उनकी ज्योति, आनंद और शांति जगत्‌की सभी वस्तुओंको गुप्त रूपसे धारण कर रही हैं; हमारे अंदर एक आत्मा है, एक केंद्रीय भागवत सत्ता है जो इन सब बाह्य व्यक्तित्वोंसे कहीं महान् है और जो, स्वयं परमात्माकी तरह ही, इन व्यक्तित्वोंको प्राप्त दैव या भाग्यसे अभिभूत नहीं होती। अगर हम अपने अंदरकी इस भागवत सत्ताको ढूंढ़ निकालें, अगर हम अपनेको यही आत्मा समझें जो तत्त्वतः और स्वरूपतः भगवान्‌के साथ एक है तो यही हमारी मुक्तिका द्वार बन जाता है और इस जगत्‌की सारी विषम-ताओंके बीचमें रहते हुए भी हम अपने इस आत्माके अंदर ज्योति-र्मय, आनंदमय और स्वतंत्र बने रह सकते हैं। इतनी बात तो युग-युगांतरकी आध्यात्मिक अनुभूतिके द्वारा प्रमाणित ही है।

पर फिर भी इस विषमताका हेतु और मूल क्या है—क्यों यह विभाजन और अहंकार, दुःखपूर्ण क्रमविवर्तनसे युक्त यह जगत्

उत्पन्न हुआ ? दिव्य मंगल, आनंद और शांतिके अंदर भला अ-मंगल और शोक-तापका प्रवेश ही क्यों हुआ ? मानव-बुद्धिको, उसकी अपनी भूमिकापर, यह बात समझाना बड़ा कठिन है, क्योंकि जिस चेतनामें इस जागतिक व्यापारका आरंभ होता है और जिसमें यह बुद्धिके परेके किसी ज्ञानके सामने मानो स्वभावतः ही समुचित प्रतीत होता है, वह विश्व-व्यापी बुद्धि है, व्यक्तिगत मानव-बुद्धि नहीं, वह चेतना मन-बुद्धिकी अपेक्षा कहीं बृहत्तर क्षेत्रोंको देखती है, उसकी दृष्टि ही भिन्न है, उसकी समझ ही भिन्न है, उसकी उपाधि ही भिन्न है। मनुष्यकी मन-बुद्धिको समझानेके लिये ऐसा कहा जा सकता है कि अनंत भागवत सत्ता स्वयं भले ही इन सब विक्षोभोंसे स्वतंत्र हो, पर जब एक बार अभिव्यक्तिका आरंभ हो गया तब उसके साथ-ही-साथ अनंत संभावनाओंका भी प्रादुर्भाव हो गया और उन अनंत संभावनाओं-में, जिन्हें वास्तविकतामें परिणत करना ही इस विश्वव्यापी अभि-व्यक्तिका कार्य है, अत्यंत स्पष्ट रूपमें एक संभावना हुई दिव्य शक्ति, ज्योति, शांति और आनंदका अभाव, आपाततः व्यावहारिक अभाव और उसके सारे परिणाम। अब यहां यदि यह पूछा जाय कि इस संभावनाके होनेपर भी आखिर इसे स्वीकार ही क्यों किया गया तो विश्व-सत्यसे बहुत-कुछ मिलता-जुलता इसका उत्तर मानव-बुद्धि यही दे सकती है कि एकरूप भगवान्‌का अनेक-रूप भगवान्‌के साथ जो संबंध है उसके अंदर, अथवा एकरूप भगवान् जब अनेकरूप हो चले तब इस संक्रमणके अंदर एक अवस्था ऐसी आयी जब यह अशुभ संभावना अनिवार्य हो गयी। कारण, एक बार जब यह संभावना प्रकट हो जाती है तब विव-

र्तनमूलक अभिव्यक्तिके अंदर अवतरण करनेवाले जीवके लिये उसका आकर्षण अत्यंत प्रबल हो उटता है और इस कारण वह संभावना अवश्यंभावी हो जाती है—पार्थिव स्तरपर रहनेवाले मनुष्योंकी भाषामें हम कह सकते हैं कि वह आकर्षण है अज्ञात-की पुकार, संकट, कठिनाई और दुस्साहसका आनंद, असंभवको संभव कर दिखानेकी, अपरिमेयको परिमेय बनानेकी प्रबल इच्छा, अपनी सत्ता और जीवनके उपादानसे नवीन और असृष्टकी सृष्टि करनेकी आकांक्षा, परस्पर-विरोधी तत्त्वों और उनके बीच दुः-साध्य समन्वय-साधनके प्रति आकर्षण—इन सब चीजोंके, मानसिक चेतनासे उच्चतर और विशालतर अतिभौतिक अतिमानव-चेतनाके अंदर जो रूप होते हैं उन्हींके प्रलोभनके कारण जीवका यह पतन हुआ है। क्योंकि अवतरणके ठीक पहले ज्योतिर्मय व्यष्टिसत्ता-को एक ही बात अज्ञात थी और वह थी अतल गह्वरकी गह-राई, अज्ञान और निश्चेतनाके अंदर भागवत सत्ताकी संभावनाएं। दूसरी ओर थी एकरूप भगवान्‌की व्यापक, करुणापूर्ण, अनुमोदक और सहायक सम्मति और यह परम ज्ञान कि यह अवश्य ही होगा, जब यह संभावना प्रकट हुई है तब यह पूरी होकर ही रहेगी, एक अर्थमें इसकी अभिव्यक्ति एक अपरिमेय अनंत ज्ञान-का ही एक अंग है, अगर रात्रिके अंदर कूद पड़ना अवश्यंभावी हुआ है तो एक नवीन अभूतपूर्व दिवसके अंदर प्रकट होना भी सुनिश्चित है और केवल इसी प्रकार परम सत्यकी एक विशेष अभिव्यक्ति साधित हो सकती है—उस सत्यके साथ व्यावहारिक विरोध रखनेवाली वस्तुओंसे क्रमविवर्तनका आरंभ करके, इस मीमांसाको ही रूपांतरकारी दिव्य प्राकट्यकी प्राथमिक शर्त्त बना-

कर साधित हो सकती है। इस सम्मतिमें महान् यज्ञका संकल्प, स्वयं भगवान्के निश्चेतनाके अंदर अवतरित होकर अज्ञान और उसके परिणामोंका बोझ धारण करनेका, अवतार और विभूतिके रूपमें जागतिक व्यापारमें हस्तक्षेप कर आत्मबलि और विजयके द्विविध चिह्नके बीचसे होकर परिपूर्णता और मुक्तिकी ओर अग्रसर होनेका संकल्प भी सम्मिलित था। अनिर्वचनीय सत्यका क्या यह अत्यंत रूपकात्मक निरूपण हो गया? परंतु बुद्धिके अत्यंत परेके रहस्यको रूपकके बिना कैसे बोधगम्य कराया जा सकता है? जब मनुष्य संकीर्ण बुद्धिकी सीमा पार कर जाता है और विश्वगत अनुभूति और तादात्म्यके द्वारा वस्तुओंको देखनेवाले ज्ञानमें हिस्सा प्राप्त कर लेता है तभी वह पार्थिव घटनानुरूप इन रूपकोंके पीछे वर्तमान परम तथ्योंको उनके दिव्य रूपोंमें देख सकता है। सहज, स्वाभाविक ढंगसे उन्हें सभी पदार्थोंके सारतत्त्वके रूपमें अनुभव कर सकता है। उस महत्तर चेतनाके अंदर प्रवेश करनेपर ही मनुष्य उस अनिर्वचनीय सत्यकी आत्मसृष्टिकी अपरिहार्यता और उसके उद्देश्यको समझ सकता है।

वास्तवमें यह नामरूपात्मक जगत्का केवल वह सत्य है जो चेतनाके सामने उस समय प्रतिभात होता है जब वह शाश्वत सत्ता और कालांतर्गत अवतरणके मध्यकी सीमापर अवस्थित होती है, जहां, 'एक' के साथ क्रमविवर्तनशील 'बहु' का संबंध स्वतः निर्दिष्ट होता है, जिस भूमिकामें, जो कुछ इस जगत्में होनेवाला है वह बीज-रूपमें तो निहित है पर अभी क्रियाशील नहीं हुआ है। परंतु मुक्त चेतना इससे भी ऊपर उठ सकती है जहां

यह प्रश्न उठता ही नहीं; और वहांसे वह उस परम तादात्म्यके प्रकाशमें इस जगत्को देख सकती है, जिसमें सब बातें वस्तुओंके स्वप्रवृत्त स्वतःसिद्ध सत्यमें पहलेसे ही निर्दिष्ट हैं और समस्त सृष्ट और असृष्टके पीछे वर्तमान परम चेतना, ज्ञान और परम आनंद-के सम्मुख स्वतः ही समर्थित हैं, तथा जिसमें सत् और असत् दोनों ही उस अनिर्वचनीय सद्वस्तुकी दृष्टिसे देखे जाते हैं जो दोनोंको मुक्त और समन्वित करती है। परंतु उस ज्ञानको मानव-मनके सामने व्यक्त करना संभव नहीं; उसकी ज्योतिर्मयी भाषा इतनी दुर्बोध है, स्वयं उसकी ज्योति इतनी प्रखर है कि इस विश्व-प्रहेलिकाके भार और अंधकारसे अभ्यस्त और अभिग्रस्त मानव-चेतनाके लिये उसके निर्देशका अनुसरण करना और उस-के रहस्यको पकड़ पाना असंभव है। जो हो, अंधकार और द्वंद्वके क्षेत्रको पार कर जब हम अध्यात्म-सत्तामें पहुंचते हैं केवल तभी हम इसके पूरे तात्पर्यको समझ पाते हैं और इस गोरख-धंधेसे जीव मुक्ति पाता है। मुक्तिके इस शिखरपर आरोहण करना ही इस गोरखधंधेसे बाहर निकलनेका सच्चा रास्ता और निस्संदिग्ध ज्ञान प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है।

परंतु यह आवश्यक नहीं है कि इस प्रकार मुक्ति तथा विश्वा-तीत चैतन्यको प्राप्त करना कोई ऐसी स्थिति हो जिसमें जीव-की सत्ताका सर्वथा तिरोभाव हो जाता हो, नामरूपात्मक जगत्-से सदाके लिये उसका संबंधविच्छेद हो जाता हो; उलटे वह स्थिति सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और प्रबल-प्रचुर शक्तिको कर्ममें प्रवाहित कर सकती है जिससे जगत्का रूपांतर हो सके तथा क्रमविवर्तन-की प्रेरणा अपनी पूर्णताको प्राप्त कर सके। यह वह आरोहण

है जहांसे फिर कभी पतन नहीं होता बल्कि ज्योति, शक्ति और आनंदका क्षिप्र या स्वतःविधृत अवतरण होता है।

जीवकी शक्तिमें जो कुछ अंतर्निहित होता है वही संभूतिके रूपमें व्यक्त होता है; परंतु अभिव्यक्ति कैसी होगी, उसका नाम-रूप क्या होगा, उसमें समस्त शक्तियोंका सामंजस्य कैसा होगा, इसमें विभिन्न तत्त्व किस प्रकार व्यवस्थित होंगे—ये सब बातें उस चेतनापर निर्भर करती हैं जो सृजनी-शक्तिके अंदर कार्य करती है, उस चिच्छक्तिपर निर्भर करती हैं जिसे परम सत्ता स्वयं अपने अंदरसे अभिव्यक्तिके लिये बाहर निकालती है। जीव-के स्वभावमें ही यह क्षमता है कि वह अपनी चेतनाकी शक्ति-योंका क्रम बांध सके और उन्हें नानाविध बना सके तथा तत्तत् क्रम और वैचित्र्यके अनुसार अपने जगत् या आत्मप्राकट्यका परि-माण और परिव्याप्ति निर्धारित कर सके। जो सृष्ट तत्त्व चेतना-की जिस शक्तिकी अभिव्यक्ति होता है वह उसी शक्तिसे सीमित होता है और उसी शक्तिके अनुसार उसकी दृष्टि और उसका जीवन होता है तथा वह केवल तभी अपनी दृष्टि और जीवनको अधिक शक्तिशाली बना सकता और अपने जगत्को परिवर्तित कर सकता है जब वह अपनेसे ऊपरकी चेतनाकी महत्तर शक्ति-की ओर अपने-आपको उद्घाटित करे अथवा उसकी ओर अग्र-सर हो या उसे अपने अंदर अवतरित करावे। हमारे इस जगत्-में चेतनाके क्रमविकासके अंदर यही हो रहा है; इसी आवश्य-कताकी पूर्त्तिके लिये प्राणहीन जड़तत्त्वने प्राणशक्ति और फिर मनःशक्ति उत्पन्न की है जिनसे इस जड़-तत्त्वको सृष्टिके नये-नये रूप प्राप्त हुए हैं, और अब वह किसी अतिमानस-शक्तिको उत्पन्न

करनेके लिये, अपने अंदर अवतरित करानेके लिये प्रयत्न कर रहा है। इसके अतिरिक्त यह सृजनी-शक्तिकी भी एक क्रिया है और वह शक्ति चेतनाके दो छोरोंके बीच संचरण करती हुई यह क्रिया करती है। एक छोरपर है एक निगूढ़ चेतना जो भीतर और ऊपर है और जो अपने अंदर ज्योति, शांति, शक्ति और आनंदकी सभी संभावनाओंको—जो वहां शाश्वत कालसे व्यक्त हैं और यहां व्यक्त होनेकी प्रतीक्षा कर रही हैं—धारण किये हुए है। दूसरे छोरपर है एक दूसरी बाह्य चेतना जो ऊपरी तलपर है और उससे नीचे है और जो चैतन्यके आपाततः विरोधी भावोंसे, अचेतना, जड़ता, अंध वेग, दुःखकी संभावनासे यात्रा आरंभ करती है और क्रमशः उच्चतर शक्तियोंको ग्रहण कर विकसित होती है और इन शक्तियोंके द्वारा सदा अधिकाधिक बृहत्तर रूपोंमें अपनी सृष्टि करनेमें समर्थ होती है और इस प्रकार होनेवाली जिसकी प्रत्येक नयी सृष्टि अंतर्निहित संभावनाको कुछ-न-कुछ बाहर ले आती है और इस तरह, जो परिपूर्णताकी अवस्था अभिव्यक्त होनेके लिये ऊपर प्रतीक्षा कर रही है उसे नीचे उतार लाना अधिकाधिक संभव बनाती है। जबतक हमारा बाहरी व्यक्तित्व, जिसे हम अपनी सत्ता समझते हैं, चेतनाकी निम्नतर शक्तियोंमें ही केंद्रित है तबतक उसके अपने ही अस्तित्व, उसके उद्देश्य, उसके प्रयोजनकी समस्या उसके लिये एक दुर्बोध पहेली ही रह जाती है; अगर कभी इस सत्यका कुछ अंश इस बाह्य मनोमय पुरुषके सामने प्रकट भी होता है तो वह उसे केवल अपूर्ण रूपमें ही ग्रहण करता है, संभवतः उसका कुछ-का-कुछ ही अर्थ लगाता है, उसका दुरुपयोग करता और

जीवनमें उसे विकृत रूपमें ही प्रकट करता है। सचमुचमें उसकी यात्राकी सहायिका लाठी केवल विश्वासकी आगसे बनी हुई होती है, ज्ञानकी किसी सुनिश्चित और निस्संदिग्ध ज्योतिसे नहीं। जब वह अपनी वर्तमान अवस्थाकी सीमा पार कर एक उच्चतर चेतनाकी ओर, जो उसके लिये अभी पराचेतना है, अग्रसर होगा तभी वह अपनी असमर्थता और अज्ञानसे बाहर निकल सकेगा। जब वह उस सीमाको अतिक्रम कर एक नवीन अतिचेतन अस्तित्वके प्रकाशमें जा पहुंचेगा तभी वह पूर्ण मुक्ति और ज्ञानकी ज्योतिको प्राप्त करेगा। यही वह परागति है जो योगियों और आध्यात्मिक साधकोंकी अभीप्साका लक्ष्य था।

परंतु इतनेसे ही इस सृष्टिमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, किसी मुक्त जीवके इस जगत्को छोड़ देनेसे इस जगत्का कुछ आता-जाता नहीं। परंतु यह सीमोल्लंघन यदि केवल आरोहणके ही नहीं प्रत्युत अवरोहणके उद्देश्यसे भी किया जाय तो यह सीमा जो अभी एक आवरणका, एक अंतरायका काम करती है, वह परिवर्तित होकर परम सत्ताकी उन उच्चतर चित्-शक्तियोंके नीचे उतर आनेका एक मार्ग बन जायगी जो अभी इस सीमाके ऊपर विद्यमान हैं, ऐसा होनेपर पृथ्वीपर एक नयी सृष्टि होगी, उच्चतम शक्तियोंका अवतरण होगा जिससे यहांकी सारी स्थिति ही पलट जायगी, अभी जो जड़ निश्चेतनाके अंधकारसे बाहर निकलकर मन-बुद्धिके अर्द्ध-प्रकाशमें प्रकट होनेवाली सृष्टि है उसके स्थानमें आध्यात्मिक और विज्ञानमयी ज्योतिके पूर्ण प्रवाहमें उन्नीत एक सृष्टिका प्रादुर्भाव होगा। बस, ऐसे ही समुपलब्ध अध्यात्मसत्ताकी पूर्ण दीप्तिमें ही देहधारी जीव अपने अंदर निगूढ़

समस्त रहस्योंको ठीक-ठीक देखता हुआ यह समझ सकता है कि अंधकार और उसकी अवस्थाओंके अंदर उसके उतर आनेका तात्पर्य और सामयिक प्रयोजन क्या था और साथ-ही-साथ एक ज्योतिर्मय रूपांतरके द्वारा उन सबको भगवान्की—मायावृत और छद्मवेशधारी या आपातविकृत भगवान्की नहीं, वरन् साक्षात् पूर्ण भगवान्की अभिव्यक्तिमें परिणत कर सकता है।

जून १९३३

श्रीअरविंद-आश्रम प्रेस, पांडीचेरी
68--49--1500

हिन्दीमें

श्रीअरविन्दकी पुस्तकें

इन पतोंपर मिलती हैं—

१. श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला,
पांडीचेरी।

२. श्रीअरविन्द-निकेतन,
पो. ब. नं० ८५,
नयी दिल्ली।

३. श्रीअरविन्द-लाइब्रेरी,
जी. टी. मद्रास।

४. श्रीअरविन्द-सर्किल
३४ रैम्पर्ट रो, फोर्ट,
बम्बई।



